वर्ष ५० अंक १० अक्तूबर २०१२

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

अक्तूबर २०१२

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ५०
अंक १०

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–

(सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक ३० डॉलर; आजीवन ३७५ डॉलर (हवाई डाक से) २०० डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –

वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९

(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

प्रिंट आर्डर – २३,०००

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा।

(४) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

लेखकों से निवेदन

रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

।। आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ।।

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

वर्ष ५० **अक्तूबर २०१२** **अंक १०**

पुरखों की थाती

अतुलितबलधामं स्वर्णशैलाभदेहं
दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यम् ।
सकलगुनिधानं वानराणामधीशं
रघुपतिवरदूतं वातजातं नमामि ।।७।।

– मैं श्री रघुनाथ के प्रिय भक्त पवनपुत्र हनुमानजी को प्रणाम करता हूँ, जो अतुल बल के आगार हैं, (स्वर्णनिर्मित) सुमेरु पर्वत के समान आभा से युक्त शरीरवाले हैं, जो दैत्यों-रूपी वन के के लिए अग्नि के समान हैं, जो ज्ञानियों में अग्रगण्य हैं, जो समस्त गुणों के निधान और वानरों के स्वामी हैं ।

कर्णस्त्वचं शिबिर्मांसं जीवं जीमूतवाहनः ।
ददौ दधीचिरस्थीनि नास्त्यदेयं महात्मनाम् ।।८।।

– महात्माओं के लिये ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसका वे दान नहीं कर सकते – कर्ण ने अपनी त्वचा, शिबि ने अपना मांस, जीमूतवाहन ने अपना प्राण और दधीचि ने अपनी अस्थियाँ तक दान कर दी थीं ।

कलौ विश्वेश्वरो देवः कलौ वाराणसी पुरी ।
कलौ भागीरथी गंगा, दानं कलियुगे महत् ।।९।।

– कलियुग में विश्वनाथ सर्वश्रेष्ठ देवता हैं, काशी सर्वश्रेष्ठ पुरी है, गंगा सर्वश्रेष्ठ नदी हैं और दान सर्वश्रेष्ठ धर्म है ।

कविः करोति पद्यानि लालयत्युत्तमो जनः ।
तरुः प्रसूते पुष्पाणि मरुद्-वहति सौरभम् ।।१०।।

– कवि काव्य की रचना करता है और उत्तम व्यक्ति उसका प्रसार करता है, वैसे ही वृक्ष फूलों को पैदा करते हैं, परन्तु वायु उसकी सुरभि को फैलाती है ।

कस्यैकांतं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा ।
नीचैर्गच्छत्युपति च दशा चक्रनेमिक्रमेण ।।११।।

– ऐसा कौन व्यक्ति है जिसके जीवन में सर्वदा सुख ही आता हो, सर्वदा दुख ही बना रहता हो । चक्के की परिधि के क्रमशः नीचे और ऊपर जाने के समान जीवन में सुख-दुख भी आते-जाते रहते हैं । (मेघदूत)

कस्यचित् किमपि नो हरणीयं
मर्मवाक्यमपि नोच्चरणीयं ।
श्रीपतेः पदयुगं स्मरणीयं
लीलया भवजलं तरणीयं ।।१२।।

– किसी व्यक्ति की कोई चीज चोरी नहीं करनी चाहिये, किसी के प्रति कटु वचन नहीं बोलना चाहिये, श्रीपति भगवान के चरणों का स्मरण करते रहना चाहिये और इस प्रकार खेल-खेल में भवसागर को पार कर लेना चाहिये ।

कार्यार्थी भजते लोके यावत्कार्यं न सिद्धति ।
उत्तीर्णे च परे पारे नौकायाः किं प्रयोजनम् ।।१३।।

– काम निकालनेवाला व्यक्ति तभी तक किसी की पूछ करता है, जब तक कि उसका काम नहीं निकल जाता; नदी के उस पार उतर जाने के बाद व्यक्ति को नौका की आवश्यकता ही कहाँ रह जाती है ।

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वा नुसृतः स्वभावात् ।
करोमि यद्यत् सकलं परस्मै
नारायणायैव समर्पयामि ।।१४।।

– शरीर, वाणी, मन अथवा (तथा) इन्द्रियों की सहायता से और बुद्धि, अहंकार की सहायता से स्वभाव के वशीभूत हो, मैं जो जो करता हूँ, वह सब कुछ मैं परब्रह्म नारायण को समर्पित करता हूँ ।

❖ (क्रमशः) ❖

भजन-गीति

– १ –

(यमन–कहरवा)

जीव मत होना कभी हताश,
अन्तर में आलोकित स्वर्णिम, पूर्णानन्द प्रकाश ।।

उसे खोजते हो क्यों वन में, पाओगे निज अन्तर-मन में
छिपा हुआ है बीज-रूप वह, उसका करो विकास ।।

सारा जग यह ब्रह्मभूत है, दिव्य सनातन और पूत है,
उसे देखने का अब सबमें, करते रहो प्रयास ।।

उससे ओतप्रोत जग-जीवन, वही व्यापता है सब तन-मन,
आँख खोल देखो 'विदेह' नित, सदा स्वयं के पास ।।

– २ –

(छायानट–कहरवा)

सोऽहं सोऽहं जप मन विहंग ।
पाना चाहे जो फल अनुपम,
तो छोड़ पुराने रंग-ढंग ।।

पिंजरे में स्वेच्छा से बैठा,
उछला करता मद में ऐंठा,
इस दुखमय मिथ्या बन्धन से,
कब होगा तेरा मोहभंग ।।

माया का फैला गहन जाल,
कड़वे-मीठे फलयुक्त डाल,
तु फुदक-फुदक ऊपर चढ़ जा,
तो पाएगा नित ब्रह्मसंग ।।

जड़-जगत् समझ निर्जीव चित्र,
चंचलता दे अब त्याग मित्र,
तू साक्षी बनकर अब 'विदेह',
हो शान्त, बैठ मानो अपंग ।।

पश्चिमी देशों में धर्म-प्रचार

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी ने अपनी आत्मकथा नहीं लिखी, तथापि उनके स्वयं के पत्रों तथा व्याख्यानों और उनके गुरुभाइयों के संस्मरणों में यत्र-तत्र उनके अपने जीवन-विषयक बातें आ गयी हैं। उनकी ऐसी ही उक्तियों का एक संकलन कोलकाता के अद्वैताश्रम द्वारा 'Swami Vivekananda on Himself' शीर्षक के साथ प्रकाशित हुआ है। उसी के आधार पर बँगला के सुप्रसिद्ध साहित्यकार शंकर ने 'आमि विवेकानन्द बलछि' शीर्षक के साथ एक अन्य ग्रन्थ भी प्रकाशित कराया है। हम उपरोक्त दोनों ग्रन्थों तथा कुछ अन्य सामग्री के संयोजन के साथ यह संकलन क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। इसके द्वारा स्वामीजी के अपने ही शब्दों में उनके जीवन तथा ध्येय का एक प्रेरक विवरण प्राप्त होगा। – सं.)

(गतांक से आगे)

न्यूयार्क, १ जुलाई १८९४ : नहीं जानता कि आगे मैं क्या करने जा रहा हूँ। धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करो और स्वयं को प्रभु के मार्गदर्शन में छोड़ दो – यही मेरा आदर्शवाक्य है।[३९]

न्यूयार्क, ११ जुलाई १८९४ : अभी हमें बड़े-बड़े काम करने हैं। गत वर्ष मैंने केवल बीज बोया था, इस वर्ष मैं फसल काटना चाहता हूँ।... डिट्रॉएट के भाषण में मुझे ९०० डालर अर्थात् २७०० रुपये मिल हैं। अन्य भाषणों में से एक में एक घण्टे के अन्दर मैंने २५०० डालर अर्थात् ७५०० रुपये कमाये, परन्तु मुझे सिर्फ २०० डालर ही मिले। एक दगाबाज भाषण कम्पनी ने मुझे धोखा दिया था। अब मैंने उनका साथ छोड़ दिया है। यहाँ पर मैंने बहुत सारा खर्च किया है। सिर्फ ३००० डालर के लगभग बचे हैं।[४०]

बेकन, (१७) जुलाई १८९४ : मैं कल यहाँ आ गया, और कुछ दिन यहाँ रुकूँगा। न्यूयार्क में मुझे आपका एक पत्र मिला, परन्तु 'इंटीरियर' की कोई प्रति नहीं मिली, इसके लिए मैं खुश ही हूँ। क्योंकि अभी तक मैं पूर्ण नहीं हूँ, और यह जानते हुए कि 'प्रेसबिटेरियन' पुरोहित, विशेषतया 'इंटीरियर', 'मेरे लिए', कितना नि:स्वार्थ स्नेह रखते हैं, मैं इन 'मधुर स्वभाव ईसाई सज्जनों' के खिलाफ अपने हृदय में कोई दुर्भाव पैदा करना नहीं चाहता।

मेरा धर्म यह उपदेश देता है कि यदि न्यायोचित भी हो, तो क्रोध एक जघन्य पाप है। अपने अपने धर्म का अनुगमन करना ही सभी का कर्त्तव्य है। मैं कभी भी 'धार्मिक क्रोध' एवं 'सामान्य क्रोध', 'धार्मिक हत्या' और 'सामान्य हत्या', 'धार्मिक निन्दा' एवं 'अधार्मिक निन्दा' के बीच किये गये भेद को नहीं समझ सका। और मेरे देश के नीतिशास्त्र में भगवान करे, ऐसा कोई 'सूक्ष्म' नैतिक भेद कभी भी प्रविष्ट न हो। मदर चर्च, हँसी-मजाक की बात अलग,... मैं इन लोगों द्वारा मुझ पर किये गये आरोपों की जरा भी परवाह नहीं करता, क्योंकि मैं जानता हूँ कि पाखण्ड, छल एवं नाम तथा यश की कामना ही इन लोगों की एकमात्र प्रेरणा है।...

मैं बहुत अच्छी तरह से ही यहाँ की गर्मी सह ले रहा हूँ। समुद्री तटवर्ती स्वैम्पस्कॉट जाने के लिए एक धनी महिला का, जिनसे पिछले जाड़े में न्यूयार्क में परिचय हुआ, निमन्त्रण मुझे मिला था। परन्तु मैंने उसे सधन्यवाद अस्वीकार कर दिया। मैं यहाँ किसी की, विशेषतया धनियों की आतिथेयता स्वीकार करने में बहुत सावधानी बरत रहा हूँ। मुझे यहाँ के कुछ बहुत धनाढ्य व्यक्तियों के और भी निमन्त्रण मिले थे। मैंने अस्वीकार कर दिया है। मैंने अब इस धन्धे को अच्छी तरह समझ लिया है।[४१]

फिशकिल-आन-द-हडसन, न्यूयार्क, १९ जुलाई १८९४ : गर्नसी परिवार का यह देवदारु-उद्यान गर्मियों के लिये बड़ी प्यारी जगह है। कुमारी गर्नसी स्वैम्पस्कॉट की यात्रा पर गयी हुई हैं। मुझे भी वहाँ जाने का निमंत्रण मिला था, परन्तु मैंने इस वृक्षों से परिपूर्ण, बहती हुई सुन्दर हडसन नदी की धारा के किनारे और पर्वत की पृष्ठभूमि में स्थित इस शान्त एवं नि:शब्द स्थान में रहना बेहतर समझा।... सम्भवत: मैं अति शीघ्र इंग्लैंड चला जाऊँगा। परन्तु मैं केवल तुम्हें ही बता रहा हूँ कि मैं एक तरह का ईश्वर-प्रेरित व्यक्ति हूँ और बिना 'आदेश' कुछ भी नहीं कर सकता; और वह 'आदेश' अभी नहीं आया है।... जहाँ तक मेरा सवाल है, तुम्हें मेरे लिये जरा भी परेशान होने की जरूरत नहीं। मेरा पूरा जीवन ही एक गृहविहीन यायावर या घुमक्कड़ का है – भले या बुरे, किसी भी देश का परिवेश मुझे स्वीकार्य है।[४२]

स्वैम्पस्कॉट, मैसाचुसेट्स, २६ जुलाई १८९४ : मुझे बहन 'मेरी' से एक सुन्दर पत्र प्राप्त हुआ। देखती जाओ, मैं किस तरह दौड़ लगा रहा हूँ, जेनी बहन मुझे यह सब सिखा रही है। वह एक दानव की तरह उछल-कूद कर सकती है, दौड़ सकती है, खेल खेल सकती है, तथा कसम खा सकती है, और साथ ही एक मिनट में ५०० की रफ्तार से ग्राम्य शब्दों का प्रयोग कर सकती है। केवल धर्म के विषय में अधिक चिन्ता नहीं करती, बस थोड़ी-बहुत कर

लेती है। वह आज घर चली गयी और मैं ग्रीनेकर जा रहा हूँ। मैं श्रीमती ब्रीड से मिलने गया था। श्रीमती स्टोन वहाँ थीं, जिसके साथ श्रीमती पुलमैन और सभी शानदार लोग रह रहे हैं, जो इस इलाके में मेरे पुराने मित्र हैं। ये लोग पहले जैसे ही सहृदय हैं। श्रीमती बाग्ली से भेंट करने के लिए ग्रीनेकर से लौटते हुए मैं कुछ दिनों के लिए एनिस्क्वाम जा रहा हूँ। राम! राम! मैं तो सब कुछ भूल ही जाता हूँ। मछली की तरह मैंने समुद्र में गोते लगाये। मैं पूरी तरह इसके मजे ले रहा हूँ। हैरिएट ने मुझे दाँ ला प्लैन (dans laplaine) वाला गाना किस वाहियात ढंग से सिखाया; हरे राम! मैंने उसे एक फ्रांसीसी विद्वान् को सुनाया और वह तो मेरा अद्‍भुत गाना सुनकर इतना हँसता रहा कि शायद फूल कर फट ही जाता। तुमने मुझे इसी तरह फ्रेंच पढ़ायी होगी! तुम लोग निहायत बेबकूफों और काफिरों की एक टोली हो, यकीन मानो। क्या तुम तट पर फँसी एक बड़ी भारी मछली की भाँति हाँफ रही हो? मुझे खुशी हो रही है कि तुम लोग कुढ़ रही हो। ओहो! यहाँ कितनी ठण्ड है! क्या मजा है! और मैं चार हाँफती, कुढ़ती, उबलती, भुनती अनूढ़ाओं के बारे में सोचने लगता हूँ, तो यह सौगुना हो जाता है। मैं यहाँ यह किस मजे में हूँ! क्या ठण्ड है। हू ऊ ऊ ऊ ऊ ऊ ऊ!

न्यूयार्क प्रदेश में कहीं पर कुमारी फिलिप्स के पास बहुत सुन्दर स्थान है – पर्वत, झील, नदी, एवं वन सब कुछ साथ हैं – और भला क्या चाहिए? मैं वहाँ एक 'हिमालय' बनाने जा रहा हूँ और मेरा अपना जीवित होना जितना निश्चित है, उसी निश्चयता से मैं वहाँ एक मठ की स्थापना करूँगा। मैं अमेरिका के शोर मचाते, लड़ते-झगड़ते, शिकायत करते धर्म के इस कोलाहल में एक और विरोध की सृष्टि किये बिना इस देश से नहीं लौटनेवाला हूँ।[४३]

ग्रीनेकर सराय, इलियट, मेन, ३१ जुलाई १८९४ : यह एक बड़ी सराय तथा खेत-घर है। यहाँ ईसाई वैज्ञानिकों की समिति की बैठक को रही है। इस बैठक की संयोजिका ने गत वसन्त ऋतु में, जब मैं न्यूयार्क में था, मुझे यहाँ आने का निमंत्रण दिया था, इसीलिए मैं यहाँ आया हूँ। नि:सन्देह यह स्थान सुन्दर तथा ठण्डा है और शिकागो के मेरे अनेक पुराने मित्र भी यहाँ उपस्थित हैं। श्रीमती मिल्स तथा कुमारी स्टॉकहैम तुम्हें याद होंगी, कुछ और स्त्री-पुरुषों के साथ वे नदी के किनारे की खुली जगह में तम्बू लगाकर रह रही हैं। उनका समय बड़े आनन्द से बीत रहा है और कभी-कभी लोग दिन भर, तुम जिसे वैज्ञानिक पोशाक कहती हो, पहने रहते हैं। भाषण प्राय: प्रतिदिन होते हैं। बोस्टन से श्री कॉलबिल नाम के एक सज्जन आये हुये हैं। कहा जाता है कि वे अपना प्रतिदिन का भाषण प्रेताविष्ट होकर देते हैं। 'यूनिवर्सल ट्रुथ' की सम्पादिका यहाँ आकर बस गयी हैं। वे धार्मिक उपासना का संचालन कर रही हैं और मानसिक शक्ति के द्वारा सब प्रकार की बीमारियों को दूर करने की शिक्षा भी दे रही हैं; मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि शीघ्र ही ये लोग अन्धों को नेत्रदान तथा इसी तरह के अन्य कार्य भी करने लगेंगे। यह एक अजीब सम्मेलन है। सामाजिक विधि-निषेधों की इन्हें विशेष परवाह नहीं, ये लोग काफी स्वच्छन्द तथा खुश हैं। श्रीमती मिल्स एक अच्छी-खासी प्रतिभाशालिनी महिला हैं। ऐसी ही और भी कई महिलाएँ हैं।... डिट्रॉएट की रहने वाली एक दूसरी अत्यन्त शिक्षित एवं सुन्दर, काली आँखों तथा लम्बे केशों वाली महिला मुझे समुद्रतट से १५ मील की दूरी पर एक द्वीप में ले जा रही हैं। आशा है, वहाँ हम लोगों का समय अच्छा बीतेगा। कुमारी आर्थर स्मिथ भी यहीं हैं। कुमारी गर्नजी स्वाम्पस्कॉट से घर गयी हैं। यहाँ से मेरी एनिस्क्वाम जाने की सम्भावना है। यह स्थान बड़ा सुन्दर तथा मनोरम है, नहाने की यहाँ बड़ी सुविधा है। कोरा स्टॉकहोम ने मेरे लिए नहाने की एक पोशाक ला दी है और मैं बत्तख की तरह जल का आनन्द ले रहा हूँ। ...

बोस्टन के श्री वुड भी यहीं हैं, जो तुम्हारे सम्प्रदाय के एक प्रधान नक्षत्र हैं। किन्तु श्रीमती व्हर्लपूल (मेरी बेकर एड्डी) के सम्प्रदाय में सम्मिलित होने में उन्हें घोर आपत्ति है। वे इसलिए अपने को दार्शनिक-रासायनिक-भौतिक-आध्यात्मिक आदि और भी न जाने कितनी व्याधियों के मानसिक चिकित्सक के रूप में परिचित करना चाहते हैं। कल यहाँ एक भीषण चक्रवात आया था, फलस्वरूप तम्बुओं की अच्छी 'चिकित्सा' हुई। जिस बड़े तम्बू के नीचे उन लोगों के भाषण को रहे थे, उस 'चिकित्सा' के फलस्वरूप उसकी आध्यात्मिकता इतनी बढ़ गयी कि वह मर्त्य आँखों से एकदम लुप्त हो गया और उस आध्यात्मिकता से विभोर होकर प्राय: दो सौ कुर्सियाँ जमीन पर नृत्य करने लगीं! मिल्स कम्पनी की श्रीमती फिग्स प्रतिदिन सुबह नियमित रूप से प्रवचन करती हैं और श्रीमती मिल्स अत्यन्त व्यस्तता के साथ सब जगह उछल-कुद रही हैं – ये सभी लोग आनन्द में मस्त हैं। मैं विशेषकर 'कोरा' को देखकर बड़ी खुश हूँ, क्योंकि पिछले जाड़े में उन लोगों को विशेष कष्ट उठाना पड़ा था और थोड़ा आनन्द उसके लिए लाभकर ही होगा। वे लोग तम्बुओं में किस प्रकार की स्वाधीनता उपभोग करते हैं, यह सुनकर तुम्हें आश्चर्य होगा, किन्तु ये लोग सभी बड़े सज्जन तथा शुद्धात्मा हैं – कुछ मनचले अवश्य है, बस, और कुछ नहीं। मैं आगामी शनिवार तक यहाँ रहूँगा। ...

अभी उस रात छावनी के सभी लोग एक पेड़ के नीचे सोये थे, जिसके नीचे मैं हर रोज प्रात:काल हिन्दू-रीति से बैठकर इन लोगों को उपदेश देता हूँ। मैं भी उन लोगों के साथ गया था – तारों के नीचे धरती माता की गोद में सोये

हुये हम लोगों ने एक अच्छी रात बितायी, खासकर मैंने तो हर घड़ी उसका पूरा आनन्द लिया। धरती पर सोना, जंगल में पेड़ के नीचे बैठकर ध्यान लगाना, मेरे एक वर्ष के कठोर जीवन के बाद उस रात के आनन्द का मैं वर्णन नहीं कर सकता। सराय में रहने वाले लोग कमोवेश अच्छी स्थिति के हैं और जो लोग तम्बू में रहते हैं, वे सभी स्वस्थ, सबल, शुद्ध तथा सरल प्रकृति के हैं। मैं उन्हें 'शिवोऽहम्' 'शिवोऽहम्' सिखाता हूँ और वे उसे दुहराते रहते हैं; सभी सरल तथा पवित्र हैं और बिल्कुल निर्भीक ! अत: मैं अत्यन्त आनन्दित हूँ, कृतार्थ हूँ। मैं ईश्वर का आभारी हूँ कि उन्होंने मुझे धन नहीं दिया और इन तम्बुओं में रहने वाले इन बच्चों को गरीब बनाया। तुनक-मिजाज, ऐशपसन्द स्त्री-पुरुष होटल में ठहरे हुये हैं, किन्तु वज्रदेही, वज्रहृदय, पावकसम उत्साही लोग तम्बुओं में हैं। कल जब मुसलाधार वर्षा हो रही थी और चक्रवात सब कुछ उलट-पलट रहा था, उस समय ये निडर वीरहृदय लोग आत्मा की महिमा में प्रतिष्ठित होकर तम्बुओं को उड़ा ले जाने से रोकने के लिए उनकी रस्सियों को पकड़कर ऐसे झूल रहे थे कि यदि तुम उस दृश्य को देखती, तो तुम्हें प्रसन्नता होता। मैं ऐसे लोगों को देखने के लिए सौ मील जाने को तैयार हूँ। प्रभु इनका कल्याण करें। आशा है, तुम लोग अपने सुन्दर ग्राम्य जीवन का आनन्द ले रही होगी। मेरे लिए तुम जरा भी चिन्तित न होना – मेरी देख-भाल हो जायेगी; और अगर नहीं भी होती है, तो मैं समझूँगा कि मेरा जाने का समय आ चुका है और मैं चल दूँगा।

"हे माधव, लोग तुम्हें बहुत कुछ भेंट करते हैं – मैं गरीब हूँ, किन्तु मेरे पास मेरा शरीर, मन तथा आत्मा है – ये सब कुछ तुम्हारे पादपद्मों में समर्पित कर रहा हूँ। हे जगन्नाथ इन्हें तुम अंगीकार कर लो, अस्वीकार न करो।" इस प्रकार मैं चिरकाल के लिए अपना सब कुछ समर्पित कर चुका हूँ। एक बात और – यहाँ के लोग कुछ शुष्क प्रकृति के हैं; सारे जगत् में ऐसे लोगों की संख्या बहुत ही कम है, जो शुष्क न हों। ये लोग 'माधव' को नहीं समझ पाते। या तो ये मात्र ज्ञानार्जन करना चाहते हैं या झाड़-फूँक से बीमारी दूर करना, टेबिल पर भूत उतारना, डाकिनी विद्या आदि में प्रवृत्त होते हैं। इस देश में 'प्रेम जीवन, स्वाधीनता' की जितनी बातें सुनायी देती हैं, उतनी मुझे और कहीं भी नहीं सुनायी दीं, परन्तु इन विषयों में यहाँ के लोगों की धारणा जितनी कम है, उतनी और कहीं नहीं है। यहाँ ईश्वर या तो भय का प्रतीक है या रोग दूर करने वाली एक शक्ति या किसी तरह का स्पन्दन आदि। प्रभु इनका मंगल करें ! तो भी ये लोग दिन-रात तोते की तरह 'प्रेम', 'प्रेम' की रट लगाते रहते हैं।[४४]

ग्रीनेकर, ११ अगस्त १८९४ : मैं इन दिनों ग्रीनेकर में रहा। मैंने इस स्थान का बड़ा आनन्द उठाया। ये सभी मेरे प्रति बड़े दयालु रहे। शिकागो के केनिलबर्थ की एक महिला श्रीमती प्रैट मुझे ५०० डालकर देना चाहती थीं; वह मुझ में बड़ी दिलचस्पी लेने लगीं, पर मैंने अस्वीकार कर दिया। उन्होंने मुझसे वादा करा लिया है कि जब भी मुझे धन की जरूरत होगी, मैं कहला भेजूँगा, आशा है कि प्रभु मुझे कभी ऐसी स्थिति में नहीं डालेंगे। 'उनकी' सहायता ही मेरे लिए पर्याप्त है।... आगामी शरद् ऋतु में मैं न्यूयार्क में होऊँगा। न्यूयार्क एक शानदार अच्छी तरह है। न्यूयार्क के लोगों में अपने उद्देश्य के प्रति एक दृढ़ता है, जो अन्य शहरों के लोगों में नहीं दिखायी पड़ती।[४५]

एनिसक्वाम, मैसाचुसेट्स, २० अगस्त १८९४ : मैं थोड़ी-सी शन्ति चाहता हूँ, परन्तु लगता है कि ईश्वर की ऐसी इच्छा नहीं है। ग्रीनेकर में मुझे हर रोज औसतन ७-८ घण्टे बोलना पड़ा – यही मेरा कोई विश्राम था, तो यही था। परन्तु यह सब प्रभु का काम था, इसलिये वह अपने साथ ऊर्जा भी लाता है।[४६]

एनिसक्वाम, २० अगस्त १८९४ : एक बार फिर मैं बाग्ली-परिवार के साथ हूँ। वे सदा की भाँति दयालु हैं। प्रोफेसर राइट यहाँ नहीं थे। लेकिन परसों वे आये और हम लोग एक साथ बहुत आनन्दपूर्ण समय काट रहे हैं। एवांस्टन के श्रीयुत् ब्रैडली, जिनसे तुम एवांस्टन में मिल चुकी हो यहाँ आये थे। उनकी साली ने कई दिन मुझे एक तस्वीर के लिए बैठाया और उसने मेरा एक चित्र भई बनाया। मैंने नौका-विहार का आनन्द उठाया; एक शाम को नाव उलट गयी थी और मेरे कपड़े आदि सब भीग गये थे।

ग्रीनेकर में मेरा समय बड़ा ही अच्छा बीता। वहाँ के लोग कितने दयालु एवं निष्कपट थे। ...

यहाँ से शायद मैं न्यूयार्क वापस जाऊँगा। या फिर मैं बोस्टन में श्रीमती ओली बुल के यहाँ जा सकता हूँ। शायद तुमने यहाँ के प्रसिद्ध वायलिनवादक श्री ओली बुल का नाम सुना होगा। ये उन्हीं की विधवा पत्नी हैं। ये बहुत ही आध्यात्मिक महिला हैं, कैम्ब्रिज में रहती हैं और भारत से मँगायी गयी काठ की शिल्प-कृतियों से बनी उनकी बैठक बड़ी तथा सुन्दर है। वे चाहती हैं कि मैं जब चाहूँ उनके पास चला आऊँ और व्याख्यान के लिये उनकी बैठक का उपयोग करूँ। बोस्टन वास्तव में किसी भी काम के लिए बड़ा अच्छा क्षेत्र है। लेकिन बोस्टन के लोग किसी वस्तु को जिस शीघ्रता के साथ ग्रहण करते हैं, उसी शीघ्रता से उसका परित्याग भी करते हैं; जब कि न्यूयार्क के लोग कुछ धीमी चाल के हैं, परन्तु वे जब किसी चीज को ग्रहण करते हैं, आमृत्यु उसका परित्याग नहीं करते।

मैंने इन दिनों अपना स्वास्थ्य ठीक रखा है और भविष्य में भी ऐसा ही रखने की आशा करता हूँ। अभी भी मुझे

अपनी संचित राशि से कुछ निकालने का अवसर नहीं मिला, तो भी मेरे पास अभी पर्याप्त धन है। मैंने सारी अर्थकरी योजनाओं का परित्याग कर दिया है और एक टुकड़े रोटी एवं एक झोपड़ी से ही पूर्णत: सन्तुष्ट रहूँगा तथा कर्म करता रहूँगा।... शायद अपने अन्तिम पत्र में तुमसे यह नहीं बता सका कि मैं कैसे पेड़ों के नीचे सोया रहा, उपदेश दिया और कम-से-कम कुछ दिनों के लिये एक बार फिर अपने को एक स्वर्गीय वातावरण में पाया।[४७]

एनिसक्वाम, २३ अगस्त १८९४ : यह सार्वजनिक जीवन बड़ा ही झंझटों से भरा है। मैं प्राय: सनकी जैसा हो गया हूँ। भागकर कहाँ जाऊँ? भारत में तो भयंकर रूप से प्रसिद्ध हो गया हूँ – वहाँ भीड़ मेरे पीछे चलेगी और मेरे प्राण ही निकाल देगी।... हर छटाक प्रसिद्धि के लिये किलो भर शान्ति और पवित्रता के रूप में कीमत चुकानी पड़ती है। ऐसी मुझे पहले कभी कल्पना नहीं थी। मैं इस सार्वजनिक जीवन से पूर्णत: उकता गया हूँ। मैं स्वयं से भी तंग आ गया हूँ। प्रभु ही मुझे शान्ति और पवित्रता का मार्ग दिखायेंगे। हाँ माँ, मैं तुम्हारे समक्ष स्वीकार करता हूँ कि सार्वजनिक जीवन के परिवेश में, यहाँ तक कि धर्म के क्षेत्र में भी, किसी भी व्यक्ति के हृदय की शान्ति के भीतर – बीच-बीच में स्पर्धा का राक्षस सिर उठाये बिना नहीं रह सकता। जिन लोगों ने किसी सिद्धान्त के प्रचार का प्रशिक्षण प्राप्त किया है, वे इस बात का अनुभव नहीं कर सकते, क्योंकि उन्होंने धर्म को कभी जाना ही नहीं। परन्तु जो लोग संसार को नहीं, बल्कि ईश्वर को चाहते हैं, उन्हें तत्काल महसूस होता है कि नाम और यश का हर टुकड़े की कीमत अपनी पवित्रता से चुकानी पड़ती है। पूर्ण नि:स्वार्थता, नाम या यश के प्रति पूर्ण उदासीनता (के आदर्श) से यह कितना दूर है। भगवान मेरी सहायता करें।... मैं स्वयं से बहुत परेशान हूँ। ओह, यह संसार ऐसा क्यों है कि स्वयं को सामने किये बिना व्यक्ति कुछ भी नहीं कर सकता; व्यक्ति – बिना दिखे और बिना नजर में आये कार्य क्यों नहीं कर सकता? संसार अभी तक मूर्तिपूजा से एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सका है। लोग विचारों के अनुसार कार्य नहीं कर सकते, विचारों को लेकर आगे नहीं बढ़ सकते, बल्कि वे व्यक्ति चाहते हैं, आदमी चाहते हैं। और जो कोई भी कुछ करना चाहता है, उसे दण्ड चुकाना ही होगा – बचने का कोई रास्ता नहीं है। यह संसार एक बकवास है। शिव, शिव, शिव !!

खैर, मुझे टामस ए. केंपिस की पुस्तक (इमीटेशन ऑफ क्राइस्ट) का एक बड़ा ही सुन्दर संस्करण मिल गया है। मैं उस प्राचीन संन्यासी से कितना प्रेम करता हूँ! इन्होंने 'परदे के पीछे' की अद्भुत झलक पा ली थी – ऐसा बहुत कम लोगों को मिला है। हाँ, वही धर्म है। संसार की कोई बकवास नहीं। मैं मानता हूँ, मेरा विश्वास है, मैं सोचता हूँ – जैसा कोई ढुलमुलपन, बड़बोलापन, अनुमान नहीं। कितना चाहता हूँ कि मैं टॉमस ए. केंपिस के साथ, सुन्दर संसार कहे जानेवाले इस रँगे हुए बकवास के टुकड़े के परे – परे चला जाता, जिसे केवल अनुभव किया जा सकता है, कभी व्यक्त नहीं किया जा सकता।

माँ, यही धर्म है। यही ईश्वर है। इसी में सभी सन्त, सभी पैगम्बर और सभी अवतार मिलते हैं। बाइबिलों और वेदों, मतवादों और धूर्तताओं, प्रवंचनाओं और सिद्धान्तों के कोलाहल से परे – जहाँ पूर्ण प्रकाश, पूर्ण प्रेम, जहाँ इस पृथ्वी की दूषित वायु कभी पहुँच नहीं सकती। ओह! कौन मुझे वहाँ ले जायेगा?... मैंने अपनी अन्तरात्मा को जिन सैकड़ों प्रकार के बन्धनों में डाल दिया है, उनके दबाव से वह कराह रही है। किसका भारत? किसको परवाह है? सब कुछ उन्हीं का है। हम लोग भला क्या हैं? वह क्या मर गया है? वह क्या सो रहा है? वह, जिसके आदेश के बिना एक पत्ता तक नहीं गिरता, एक हृदय तक नहीं धड़कता, जो मुझ स्वयं से भी मेरे अधिक निकट है। यह सब बकवास है – भला करना या बुरा करना। हम कुछ भी नहीं करते। हम नहीं हैं। संसार नहीं है। केवल वही है, वही है, वही है। अन्य कोई भी नहीं, केवल वही है।

ॐ, वह एक और अद्वितीय है। वह मुझमें है, मैं उसमें हूँ। प्रकाश के समुद्र में मैं काँच का एक टुकड़ा हूँ। मैं नहीं, मैं नहीं। वही है, वही है, वही है।

ॐ, वह एक और अद्वितीय है।[४८]

❖ (क्रमशः) ❖

सन्दर्भ-सूची –

३९. The Complete Works, खण्ड ९, पृ. २५; **४०.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड २, पृ. ३८०; **४१.** वही, खण्ड २, पृ. ३७८-७९; **४२.** The Complete Works, खण्ड ९, पृ. २६-२७; **४३.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड २, पृ. ३८४; **४४.** वही, खण्ड २, पृ. ३८५; **४५.** वही, खण्ड २, पृ. ३९०; **४६.** The Complete Works, खण्ड ९, पृ. ३२; **४७.** साहित्य, खण्ड २, पृ. ३९१; **४८.** The Complete Works, खण्ड ९, पृ. ३३-३५

रामराज्य की भूमिका (२/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के प्रांगण में १९८८ ई. में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती के अवसर पर पण्डितजी ने जो प्रवचन दिये थे, उन्हें 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)
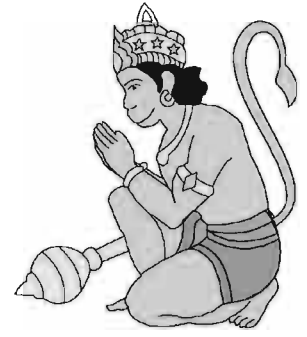
प्रतापभानु के पतन में मूल बात यह थी कि वह अच्छा था, तो भी उसके मन में दूसरों को पराजित करने, नीचा दिखाने की वृत्ति है। अन्य राजाओं ने उसकी अधीनता मान ली, पर टकराहट का बीज कब पड़ा? एक राजा ऐसा था, जो यद्यपि वह छोटे से राज्य का राजा था, पर बड़ा अभिमानी था। उसने निर्णय किया कि आज भले ही प्रतापभानु की जीत हो रही हो, पर मैं झुकूँगा नहीं, सन्धि नहीं करूँगा, वन में चल जाऊँगा। बड़ा कूटनीतिज्ञ था। लोग बोले – अरे भाई, प्रतापभानु का राज्य है, क्या तुम सूर्य से आँखें मिलाओगे? उसने कहा –"तुम लोग सूर्य से आँखें भले ही न मिलाओ और मैं भी आज नहीं मिला रहा हूँ, क्योंकि अभी वह दोपहर का सूर्य है, पर कभी शाम भी तो होगी। जब शाम होगी, तब मैं सूर्य से आँखें मिलाऊँगा। मैं प्रतीक्षा करूँगा और जब इसके पतन का समय आयेगा, तब देखना मैं क्या करता हूँ! मानो बीज पड़ गया। पराजित और विजेता को लेकर संघर्ष का बीज पड़ गया। उसने जंगल में जाकर साधु का वेष बना लिया और वहीं कुटिया बनाकर रहने लगा –

रिस उर मारि रंक जिमि राजा।
बिपिन बसइ तापस के साजा ।। १/१५८/५

वहाँ उसने कालकेतु राक्षस से मित्रता कर ली। कालकेतु के दस पुत्रों और सौ भाइयों को प्रतापभानु ने मार दिया था। उसके मन में भी शत्रुता की वृत्ति थी। दो हारे हुए व्यक्तियों में भी संगठन हो सकता है। उनके मन में अपनी पराजय का प्रतिशोध लेने की, अपने पराजय को विजय में बदलने की व्यग्रता हो सकती है। तो कपट मुनि के वेष में रहने वाला राजा और कालकेतु मिल गये। इसके बाद गोस्वामीजी बड़ा ही मनोवैज्ञानिक और बड़ी सांकेतिक चित्र प्रस्तुत करते हैं।

प्रतापभानु एक दिन शिकार के लिये सेना लेकर विंध्याचल पर जाता है। विंध्याचल रामायण का एक बड़ा महत्त्वपूर्ण पर्वत है। इसी पर प्रतापभानु के राक्षस बनने का – उसके रावणत्व का बीज छिपा है और श्रीराम भी विंध्याचल पर ही निवास करते हैं। मूल सूत्र है – विंध्याचल महत्त्वाकांक्षा का प्रतीक है। पुराणों में उसका जो चित्र प्रस्तुत किया गया है, वह हमारी महत्त्वाकांक्षा का ही चित्र है।

विंध्याचल पर्वत ने जब देखा कि सूर्य सुमेरु पर्वत की परिक्रमा करता है और उसके चारों ओर सूर्य का आभा-मण्डल छा जाता है, तो उसने सूर्य से कहा – मैं क्या कम हूँ? मेरी भी परिक्रमा करो। लोगों में अपनी आभा-मण्डल बनाने की बड़ी चिन्ता रहती है। यदि आभा न हो, तो नकली आभा की सृष्टि की जाय। सूर्य – प्रकाश से कहा जाय कि तुम उस व्यक्ति की नहीं, मेरी परिक्रमा करो। यही महत्त्वाकांक्षा है। सूर्य ने कहा – मैं अपनी इच्छा से परिक्रमा थोड़े ही करता हूँ। प्रकृति में मेरा जिस तरह से निर्माण हुआ है, वैसा करता हूँ। विंध्याचल क्रुद्ध हो गया और बोला – यदि तुम मेरे चारों ओर परिक्रमा नहीं करोगे, तो मैं अन्धकार फैला दूँगा। विंध्याचल ऊपर उठने लगा और उसने सूर्य के प्रकाश को रोकने की चेष्टा की। यह मात्र विंध्याचल का इतिहास नहीं, हमारे जीवन का भी सत्य है। हम चाहते हैं कि प्रकाश हो, तो हमारे चारों ओर हो और यदि हमारे चारों ओर नहीं है, यदि हमारे अहं की पूर्ति नहीं होती, तो समाज में अन्धकार भले ही फैल जाय, पह हम इसे सह नहीं सकते। इसी विंध्याचल-रूपी महत्त्वाकांक्षा के वन में रावण का बीज पड़ गया। प्रतापभानु विंध्याचल में जाता है। वहाँ मृगों पर बाणों से प्रहार करता है और वह इतना सफल रहता है कि जिस मृग पर वह बाण चलाता है, उसी का वध हो जाता है –

विंध्यांचल गभीर बन गयऊ।
मृग पुनीत बहु मारत भयऊ ।। १/१५५/४

संध्या होने पर वह लौटने लगा। सफल होकर लौट रहा था। दिन भर उसको सफलता-ही-सफलता मिली। पर जब लौटने लगा, तो सहसा उसे एक बड़ा विशाल वाराह दिखाई दे गया। वाराह को देखते ही प्रतापभानु का सन्तोष असन्तोष में बदल गया। सोचा कि पशु तो बहुत मिले, पर ऐसा पशु तो मेरे पास एक भी नहीं है। अब इस पर भी हम प्रहार करें। यह दूसरी वृत्ति है। महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति में सन्तोष नहीं होता। वह कितना भी सफल क्यों न हो, पर यदि वह शूकर को देख लेगा, तो उसे भी अपने वश में करना चाहेगा। यह शूकर कौन है? गोस्वामीजी कहते हैं – यह संसार वन है। इसमें कर्म का वृक्ष लगा है और विभिन्न पशु घूम रहे हैं –

संसार-कांतार अति घोर, गंभीर,
घन, गहन तरु-कर्म-संकुल, मुरारी । वि.प. ५९/२

पशुओं में यह वाराह कौन है? **लोभ शूकर रूप** (५९/४) – संसार के सघन वन में लोभ ही वाराह है । प्रतापभानु के अन्त:करण में लोभ-रूपी वाराह आ गया । उसने वाराह हो पाने की चेष्टा की । यह लोभ बड़ी समस्या है । प्रतापभानु ने बाण चलाया, पर वह वाराह को नहीं लगा । निशाना चूक गया । यह मानव जीवन का सत्य है । आप कितने भी सफल हों, पर क्या आप कल्पना कर सकते हैं कि आपके जीवन में कभी विफलता नहीं आयेगी । गीता में श्रीकृष्ण जब अर्जुन को लड़ने की प्रेरणा देते हैं, तो भगवान होते हुए भी वे जय-पराजय में समभाव रखने का उपदेश देते हैं । क्योंकि जीवन में कभी जय होती है, तो कभी पराजय; कहीं सफलता, तो कहीं विफलता । तो सफलता को हम स्वीकारें और विफलता से भी हम सही प्रेरणा लें । इससे हमारा अभिमान नष्ट होगा कि सफलता यदि मेरी बुद्धि या क्षमता का परिणाम होता, तो आज यह विफलता न मिलती । सफलता के पीछे और भी अनेक हेतु हैं । यदि व्यक्ति को अपने पुरुषार्थ की सीमाओं का ज्ञान हो, तो विफलता भी हमें ईश्वर की स्मृति कराती है ।

परन्तु प्रतापभानु को क्रोध आ गया और आवेश में वह घोड़े पर सवार होकर बड़ी तेजी से उस शूकर के पीछे भागा । वाराह और घोड़ा – दोनों की दौड़ हो रही है, जिसमें घोड़ा पिछड़ गया और वाराह आगे बढ़ गया । हम सब घोड़े पर बैठे हुए हैं और वाराह के पीछे भाग रहे हैं । यह विश्व-इतिहास का एक निश्चित सत्य है कि आपके पुरुषार्थ का घोड़ा चाहे कितना भी तेज क्यों न हो, पर लोभ के वाराह को कभी पछाड़ नहीं सकेगा । आप पुरुषार्थ जहाँ भई पहुँचेंगे, लोभ उससे आगे ही रहेगा । आप एक लक्ष्य बनाकर वहाँ तक पहुँचे नहीं कि लोभ की एक छलाँग और लग गई –

जौ दस बीस पचास मिलै सत होय हजारन लाख मगैगी ।
कोटि अरब्ब खरब्ब असंख्य महीपति होन की चाह जगैगी ।
स्वर्ग पताल को राज मिलै, पै तो तृष्णा अति आग लगैगी।
सुन्दर एक संतोष बिना सठ तेरि तो भूख कभी न मिटैगी ।

लोभ के वाराह के पीछे भागा । मंत्री और सेनापति भी निज-निज घोड़े पर बैठकर चले । धीरे-धीरे मंत्री और सेनापतियों के घोड़े पिछड़ गये, राजा का घोड़ा अकेले आगे बढ़ा । ऐसा क्यों हुआ? प्रतापभानु की दूसरी दुर्बलता है, जो हम सब में है । उसने मंत्रियों और सेनापतियों को घोड़े दिये थे, पर यह ध्यान रखा था कि मेरी बराबरी के नहीं, थोड़े कम गति वाले ही हों । हम लोग जब किसी को उदारता से कुछ देते हैं या कुछ बनाते हैं, तो ध्यान रखते हैं कि कहीं वह हमसे भी आगे न बढ़ जाय । अत: घोड़ा तो सबको दो, पर अपने से कम गतिवाला । पर आज उसका दुष्परिणाम सामने आया । आज धीरे-धीरे मंत्रियों और सेनापतियों के घोड़े पिछड़ गये और प्रतापभानु का घोड़ा आगे बढ़ता गया ।

तात्पर्य यह कि आपके साथ जितने लोग हैं, वे तभी तक आपके साथ रहेंगे, जब तक आप सफल हैं; आप ज्योंही विफल होंगे, लोग धीरे-धीरे अपने आप साथ छोड़ देंगे । प्रतापभानु का भी मंत्री-सेनापतियों से साथ छूट गया । उसके बाद महत्त्वाकांक्षा-रूपी विंध्याचल के गम्भीर वन में उसकी कपट-मुनि से भेंट हो गई । प्रतापभानु ने कपट-मुनि की कुटिया देखी । परिचय तो था नहीं, पर देखकर लगा कि ये कोई बहुत बड़े महापुरुष हैं । उन्होंने कैसे समझ लिया कि बहुत बड़े महापुरुष है? बोले – उनका सुन्दर वेष देखकर –

देखि सुबेष महामुनि जाना ।। १/१५८/७

विचित्र व्यंग्य यह है कि साधु का वेष जितना सस्ता है, साधु बनना उतना ही कठिन ! वस्त्र से साधु बनना तो सबसे सरल उपाय है । साधु का अर्थ अगर वस्त्र का रंग मात्र हो, यदि यह सोचें कि वस्त्र का रंग पीला, गेरुआ, या अमुक रंग का हो, तो साधु है; तब तो बाजार से साधुता खरीद लाइए । कपड़ा लेकर पहन लीजिए, साधु बन जाइए । वस्त्र तो एक चिह्न है, आश्रम का प्रतीक मात्र है, पर साधुता अन्त:करण का गुण है । साधुता का निर्णय आप वस्त्र देखकर नहीं कर सकते । पर प्रतापभानु की आँखें धुँधली हैं । इसीलिए बोले – सुन्दर वेष देखकर । आगे गोस्वामीजी ने कहा – अच्छा वेष देखकर मूढ़ लोग भ्रमित होते हैं, बुद्धिमान नहीं; सुन्दर मोर की वाणी तो अमृत जैसी है, पर वह खाता साँप है –

तुलसी देखि सुबेषु भूलहिं मूढ़ न चतुर नर ।
सुंदर केकिहि पेखु बचन सुधा सम असन अहि ।।
१/१६१ ख

परिणाम क्या हुआ? दोनों का मिलन हुआ – विजेता और पराजित का । दोनों आमने-सामने हैं । पर विचित्र मिलन हुआ । विजेता ने प्रणाम किया और पराजित ने कपटमुनि के रूप में प्रश्न पूछा – आपका परिचय? प्रतापभानु ने सोचा कि राजनीति यह है कि अपना नाम नहीं लेना चाहिए । उसने एक विचित्र प्रकार के सत्य का प्रयोग किया । यह भी धर्म के साथ छल की वृत्ति है । यदि वह स्पष्ट रूप से अपना दूसरा नाम ले लेता, तो यह कूटनीति होती और नहीं तो अपना स्पष्ट परिचय देता । पर सत्यकेतु का बेटा था न ! उसने सत्य की नये प्रकार की व्याख्या की ।

महाभारत में कठिन समस्या आने पर युधिष्ठिर ने भी यही किया था । जब उनसे कहा गया कि आप कहिए – **अश्वत्थामा हतो**, तो वे बोले – लेकिन यह तो पूरा असत्य हो जायेगा, इसलिये उसके साथ कुछ और जोड़ दूँगा – **अश्वत्थामा हतो नरो वा कुंजरो** – अश्वत्थामा मारा गया, पर पता नहीं, हाथी या मनुष्य ! पता तो उनको पूरा था कि हाथी मरा है, मनुष्य

नहीं। पर यह अपने को भुलावा देने की वृत्ति है कि पूरा झूठ न हो। थोड़ा झूठ और थोड़ा सत्य। लोगों ने कहा – चलेगा। उन्होंने वाक्-छल करके भले ही सत्य की रक्षा के लिये यह ढोंग रचा हो, पर कहते हैं कि युधिष्ठिर का रथ उसके पहले पृथ्वी से ऊपर चलता था, ज्योंही उन्होंने वैसा कहा, त्योंही रथ नीचे उतर गया। इसका अर्थ था कि तुम्हारे सत्य की रक्षा नहीं हो पाई। सत्यकेतु के बेटे ने भी अपना विचित्र परिचय दिया। जब कपट मुनि ने उससे पूछा कि आप कौन हैं? तो बोला – मैं प्रतापभानु राजा का मंत्री हूँ –

नाम प्रतापभानु अवनीसा ।
तासु सचिव मैं सुनहु मुनीसा ।। १/१५९/५

उसे सन्तोष था कि प्रतापभानु नाम तो मैंने ले ही लिया है, भले ही मैंने यह न कहा हो कि मेरा नाम है, तो राजनीति की दृष्टि से मैंने छिपा भी लिया। इस तरह उसने सन्तोष कर लिया। बाद में प्रतापभानु ने कपट मुनि से पूछा – महाराज, आपका नाम क्या है? इस पर उसने बड़ी विनम्रता और त्याग की भाषा का प्रयोग किया। बोला – अरे, हम तो भिखारी हैं, घर-बार तो हमारा कुछ है नहीं, हमारा क्या परिचय है –

नाम हमार भिखारि अब
निर्धन रहित निकेत ।। १/१६०

– महाराज, यह तो आपकी विनम्रता है। शाब्दिक विनम्रता उद्दण्डता से भी अधिक घातक है, क्योंकि उससे व्यक्ति को भ्रम हो जाता है। प्रतापभानु के मन में भी यही भ्रम हुआ और कपट मुनि के प्रति उसके मन में आदर बढ़ गया – अरे, ये इतने बड़े त्यागी है, इतने विरक्त हैं। देखो, कैसे विनम्र हैं। फिर पूछा – नहीं महाराज, आप तो अपना परिचय दीजिए।

जिमि जिमि तापसु कथइ उदासा ।
तिमि तिमि नृपहि उपज बिस्वासा ।। १/१६२/५

तब उसने अपने दम्भ का प्रयोग किया। अब दम्भ बोल रहा है। उसने कहा – मेरा नाम तो एकतनु है –

नाम हमार एकतनु भाई ।। १/१६२/७

महाराज, आज तक पूरे इतिहास में इतने नाम सुने, पर ऐसा नाम तो कभी नहीं सुना। अच्छा, इसका अर्थ बताइए –

कहहु नाम कर अरथ बखानी ।। १/१६२/८

तब पता चला कि महामुनि किस उद्देश्य से ऐसी विनम्रता और त्याग की भाषा बोल रहे थे। कहा – जब सृष्टि हुई, तब से मेरा जन्म हुआ है और आज तक मेरा शरीर नहीं बदला।

आदिसृष्टि उपजी जबहिं तब उतपति भै मोरि ।। १/१६२

बाकी लोगों का बदल जाता है, अत: उनका नाम एकतनु कैसे हो? पर मेरा शरीर तब से एक ही है, अत: मैं एकतनु हूँ। इसके बाद उसने धीरे-से पूछा – आप कुछ चाहते हैं?

प्रतापभानु से वही चिन्ता हो गई, जो व्यक्ति को होती है। वह इतना सफल राजा था, पर उसने कपट मुनि से कहा – आपकी कृपा से मेरे पास सब कुछ है, पर इसके बावजूद जब आपके समान महापुरुष माँगने के लिये कह रहा है, तो यदि मैं न मागूँ तो आपकी कृपा का अनादर होगा। इसलिए अगर आप प्रसन्न हैं तो मुझे इतना वरदान दे दीजिए। – क्या?

जरा मरन दुख रहित तनु समर जितै जनि कोउ ।
एक छत्र रिपुहीन महि राज कल्प सत होउ । १/१६४

"मैं बूढ़ा न होऊँ।" प्रतापभानु की यह माँग हम सबकी भी माँग है। हम लोगों को भी कोई कपटमुनि मिले तो हम भी यही माँगेंगे कि हम न बूढ़ें हों, न मरें। प्रतापभानु तो यह भी चिन्ता है कि सबको हरा दिया है, भविष्य में मुझे कोई हरा न दे, इसलिए यह भी कह दिया – "युद्ध में हमें कोई न जीते।" फिर आगे स्पष्ट कह दिया – "मेरा कोई शत्रु न रह जाय और मैं सौ कल्प तक राज्य करूँ।" कपटमुनि मन-ही-मन हँसा। बोला – मुझे तो बस थोड़ी-सी भूख थी – अपना राज्य वापस लेने की, पर तू तो इतना सब चाहता है !

प्रतापभानु का कपटमुनि का मिलन कब हुआ? जब वह कपटमुनि के आश्रम में पहुँचा, तब सूर्य डूब रहा था –

आसन दीन्ह अस्त रबि जानी ।। १/१५९/२

गोस्वामीजी ने अपना सहित्यिक व्यंग्य किया। कपटमुनि ने प्रतापभानु का स्वागत किया – राजा, तुम बहुत अच्छे समय पर आए। प्रतापभानु ने समझा कि शायद कोई शुभ मुहूर्त होगा। पर उसका अभिप्राय था कि उधर भी सूर्य डूब रहा है और तुम भी डूबने वाले हो, इसलिए बड़े अच्छे समय पर आए हो, इससे अच्छा अवसर अन्य नहीं हो सकता था।

जब तक व्यक्ति के जीवन में अहंकार, स्वार्थ तथा लोभ है और वह अपनी ही श्रेष्ठता और अमरता के लिए व्यग्र है, तब तक उसमें बदलाव आने की कल्पना व्यर्थ है। प्रतापभानु परिवर्तित होकर रावण हो जाता है, पर उसकी महत्त्वाकांक्षायें ज्यों-की-त्यों हैं। रावण के रूप में भी वह बड़ा पुरुषार्थी है। वह मृत्यु को भले ही न जीत सका हो, पर बुढ़ापे को उसने जीत लिया था; और ऐसा लगता था कि उसने मृत्यु को भी हरा दिया है। प्रतापभानु की वृत्ति – धर्म के मार्ग से अपनी महत्त्वाकांक्षा को पूर्ण करने की थी और रावण के रूप में जब वह राजा हुआ, तो उसकी वृत्ति हुई कि हम चाहे जिस मार्ग से अपनी महत्त्वाकांक्षा पूरा करेंगे। बस यही अन्तर है।

भले और बुरे – दोनों तरह के लोगों का लक्ष्य सफलता ही है; भेद इतना है कि भला व्यक्ति भले मार्ग से सफलता पाना चाहता है, पर बुरा व्यक्ति सोचता है कि जैसे भी हो, सफलता ही जीवन का एकमात्र उद्देश्य है। यह रावण का चित्र है। रावण का जन्म लंका में नहीं, बल्कि विश्रवा मुनि के आश्रम में हुआ। वह मुनि का पुत्र था। पूर्वजन्म में वह प्रतापभानु था। उसे पता चला कि लंका पर यक्षों का अधिकार है, तो उसने राक्षसों की सेना बनाई और लंका पर

आक्रमण किया। उसकी विशाल सेना को देखकर सारे यक्ष अपने प्राण लेकर भागे। रावण ने उस राष्ट्र पर अधिकार कर लिया और लंका की समृद्धि का स्वामी बन गया –

देखि बिकट भट बड़ि कटकाई।
जच्छ जीव लै गए पराई।। ...
सुंदर सहज अगम अनुमानी।
कीन्हि तहाँ रावन रजधानी।। १८९/४,६

व्यक्ति सोचता है कि समृद्धि तो हम छीनकर भी पा सकते हैं। अन्य किसी मार्ग से शायद देर लगे, लेकिन यदि हममें क्षमता है, पुरुषार्थ है, तो हम उसे छीनकर तत्काल पा सकते हैं। इस तरह लंका राज्य बना। रावण बड़ा बुद्धिमान और योग्य था, उसने एक राष्ट्र बनाया, पर गोस्वामीजी उसके रावण-राज्य को रामराज्य नहीं मानते। प्रतापभानु का राज्य भी अच्छा था। व्यवस्था की दृष्टि से रावण का राज्य भी अच्छा था, पर गोस्वामीजी का व्यंग्य देखिये। लंका की उन्नति का वर्णन उन्होंने कब किया? हनुमानजी रात को लंका में गये और उसे देखा, तब लंका का चित्र प्रस्तुत किया –

मंदिर मंदिर प्रति कर सोधा।
देखे जहँ तहँ अगनित जोधा।।
गयउ दसानन मंदिर माहीं।
अति बिचित्र कहि जात सो नाहीं।।
सयन किएँ देखा कपि तेही।
मंदिर महुँ न दीखि बैदेही।। ५/५/५-७

यहाँ एक शब्द के द्वारा गोस्वामीजी ने लंका के जीवन-दर्शन की ओर संकेत किया। व्यक्ति का सुख क्या है? क्या अन्न, वस्त्र और शिक्षा में ही व्यक्ति का सुख निहित है? फिर रामराज्य का वर्णन करते समय उन्होंने कहा – रामराज्य में न तो कोई दुखी था, न दरिद्र था और न दीन था –

नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना।

इन तीन शब्दों की क्या जरूरत थी? दरिद्रता और दीनता तो पर्यायवाची शब्द है और दुख भी उसके आसपास ही है। गोस्वामीजी बताना चाहते हैं कि दरिद्रता, दीनता और दुख – तीनों पर विजय पाने में ही रामराज्य की पूर्णता है। इन तीनों पर विजय बहुधा नहीं मिलती। रावण ने सोने की लंका पर अधिकार किया और सुन्दरी स्त्रियों से विवाह किया –

देव जच्छ गंधर्ब नर किंनर नाग कुमारि।
जीति बरीं निज बाहु बल बहु सुंदर बर नारि।। १/१८२

रावण ने स्वर्ण और सौन्दर्य, दोनों पर अधिकार कर लिया, पर क्या उसकी दरिद्रता मिट गई? यदि मिटी होती, यदि उसे सन्तोष हो गया होता, तो उसमें सीता को चुराने की वृत्ति नहीं आती। वह श्रीराम को चुनौती भी दे सकता था कि तुमने मेरी बहन का अनादर किया है, मैं युद्ध करके उसका बदला लूँगा। पर इतना शक्तिशाली, ऐसा योद्धा होकर भी उसके मस्तिष्क में राम को युद्ध के लिए चुनौती देने की बात नहीं आई। उसके मन में सीता को चुराने की वृत्ति पैदा हुई।

बड़ी सांकेतिक भाषा है। यदि कोई अभावग्रस्त चोरी करे, तो लगेगा कि चलो, पेट के लिये चोरी की। पर जिसके पास सब कुछ है, वह भी यदि चोरी करने चले! इतनी सुन्दरियों के होते हुए भी रावण चोरी करने गया। गोस्वामीजी ने व्यंग्यपूर्वक कहा – जब रावण सीताजी को चुराने चला, तो उसके पैर डगमगा रहे थे, यही चोर का लक्षण है।

जाकें डर सुर असुर डेराहीं।
निसि न नीद दिन अन्न न खाहीं।।
सो दससीस स्वान की नाईं।
इत उत चितइ चला भड़िहाईं।। ३/२८/८-९

लंका में दूसरों की तो बात ही क्या, लंकाधिपति रावण भी महादरिद्र है; इतना कि उसे चोरी करने में संकोच नहीं है। हनुमानजी लंका में पैठे, तो लंकिनी ने उन्हें पकड़ा और खा जाना चाहती थी। उन्होंने पूछा – क्या तुम्हें भूख लगी है? लंकिनी बोली – तू बड़ा ढीठ है। क्या लंका में भोजन की कमी है, जो मुझे भूखी समझ रहा है? हनुमानजी ने कहा – मैं तो यही समझता था कि भोजन भूख के कारण ही किया जाता है, पर लंका में भोजन का कोई और भी ऊँचा उद्देश्य होगा। लंका में अपनी बुरी वृत्ति को अच्छे रूप में रखने की उत्कृष्ट शैली है। बोली – मैंने निश्चय किया है कि संसार से चोरों को मिटा दूँगी। तुम चोर हो, अत: तुम्हें खाऊँगी –

मोर अहार जहाँ लगि चोरा।। ५/३/३

हनुमानजी ने तुरन्त अपना विशाल रूप प्रगट किया और लंकिनी को एक मुक्का मारकर भूमि पर गिरा दिया –

मुठिका एक महाकपि हनी।। ५/३/४

हनुमानजी ने मुक्का सिर पर ही क्यों मारा? बोले – "तेरा दिमाग ठीक नहीं है, इसलिये सिर पर मारा। तू मुझे चोर समझ रही है। तेरी बुद्धि में चोर की परिभाषा क्या है? यदि चोरों को खाना ही तेरा व्रत है, तो सबसे पहले सीताजी को चुरा लानेवाले रावण को खाती। मैं चोर का पता लगाने आया हूँ और मुझे ही चोर कह रही है। चोर को साहूकार कह रही है। तेरी बुद्धि उल्टी है।" मुक्का ठीक जगह लगा और वैचारिक परिवर्तन आ गया। हम लोगों के मस्तिष्क पर भी मुक्के के प्रहार की जरूरत है। मुक्के के प्रहार का अर्थ यह है कि हमारी झूठी मान्यताएँ कैसे बदलें! लंकिनी ऐसी बदली कि रावण का सारा प्रबन्ध धरा रह गया। लंकिनी ने हनुमानजी को रोका, पर बाद में कह दिया – जाओ, जाओ। हनुमानजी बोले – अभी तो तुम मुझे चोर कह रही थी। अब तुम्हें यह क्या हो गया? लंकिनी बोली – अरे, अभी तक मैं समझ बैठी थी कि राजा रावण है, लेकिन अब मुझे पता चल गया कि राजा तो केवल राम ही है। संसार की सारी वस्तुएँ,

सारे राज्य वस्तुत: ईश्वर के हैं और रावण ने उन पर धृष्टतापूर्वक अधिकार जमा रखा है। इसलिए चोर तो वस्तुत: रावण है – इस सत्य का अब मुझे ज्ञान हो गया है –

प्रबिसि नगर कीजे सब काजा।
हृदयँ राखि कोसलपुर राजा ।। ५/५/१

हनुमानजी ने रावण की सभा में जाकर उस पर भी यही व्यंग्य किया। रावण बोला – बन्दर, तेरा आचरण धर्मविरुद्ध है। – कैसे? "दूसरे के चीज बिना पूछे खाना अधर्म है। यदि तुम्हें भूख लगी थी, तो मुझसे पूछ लेते। बिना आज्ञा तुमने वाटिका के फल क्यों खाये? विचित्र बात है, जिन लोगों ने तुम्हें रोकने की चेष्टा की, तुमने उनको मार दिया। कैसी धृष्टता है! इसीलिए मैंने तुम्हें सभा में बुलाया।" हनुमानजी ने कहा – "भूख लगी थी, इसलिये मैंने फल खा लिये।" बड़ा विचित्र उत्तर है। अगला उत्तर और भी विचित्र है। पूछा – बाग क्यों उजाड़ा? बोले – तोड़-फोड़ करना तो बन्दर का स्वभाव ही है, इसलिए मैंने बाग उजाड़ दिया –

खायउँ फल प्रभु लागी भूँखा।
कपि सुभाव तें तोरेउँ रूखा ।। ५/२२/३

अच्छा, राक्षसों को क्यों मार दिया? बोले – इन लोगों ने मुझे पहले मारा, तो मैंने इनको मार दिया –

जिन्ह मोहि मारा ते मैं मारे ।। ५/२२/५

लगता है कि ये उत्तर बड़े बेतुके हैं। यदि कोई न्यायालय में कहे कि मुझे जरूरत थी, इसलिये चोरी कर ली; स्वभाव है, इसलिए आग लगा दिया और जो मुझे रोकता है, उसे मैं जरूर मारता हूँ – यह मेरा स्वभाव है; तो न्यायाधीश उसे और भी अधिक दण्ड देगा कि यह तो स्वभाव से ही अपराधी है। पर हनुमानजी का व्यंग्य बड़ा गहरा था – "रावण, तुम सिंहासन पर बैठे मुझे चोर बनाकर न्याय कर रहे हो, क्योंकि मैंने तुम्हारी वाटिका के फल खाये। मैं तो बन्दर हूँ। बन्दर वृक्ष नहीं लगाता, मेरी कोई खेती-वेती नहीं है। भूख लगी थी, अत: मैंने फल खा लिये। इसके लिये तुम मुझे चोर कहते हो, पर सारे संसार की सुन्दरियों के स्वामी होते हुए भी सीताजी को चुराने में तुमने संकोच नहीं किया। भूखा फल खा ले, तो चोर; और तुम सीताजी की चोरी कर लो, तो भी तुम चोर नहीं? तुम्हारी यह कैसी परिभाषा है?"

पहले रावण के अन्तर्मन में क्षण भर के लिए विवेक का उदय हुआ था। जब सूर्पणखा से उसने सूना कि राम ने खर-दूषण को मार दिया, तब उसके मन में एक क्षण के लिये प्रकाश की कौंध आई – लगता है, भगवान आ गए –

खर दूषन मोहि सम बलवन्ता।
तिन्हहि को मारइ बिनु भगवन्ता ।। ३/२३/२

यदि कोई रावण से कहता कि भगवान आ गए, तो उसे भगवान की भक्ति करनी चाहिए। तब वह कहता है – ठीक है, वह सब तो मैं जानता हूँ, पर हमारा शरीर तो भोग वाला है, तमोगुणी है, इससे तो भजन नहीं होगा –

होइहि भजनु तामस देहा ।। ३/२३/५

हनुमानजी का व्यंग्य था, "तुम ब्राह्मण कुल में जन्मे हो और कहते हो कि मेरा शरीर तमोगुणी है, मैं भजन नहीं कर सकता। तो विश्रवामुनि का पुत्र, पुलस्त्य का नाती अपने स्वभाव को न बदले और एक बन्दर से – पशु से आशा रखे कि उसका स्वभाव बदल जाय, क्या यही तुम्हारा न्याय है?"

हनुमानजी ने रावण की लंका में रात में पैठकर गहराई से सब कुछ देखा और उसके बाद सारी लंका को जला दिया। बाद में बन्दरों ने उनसे पूछा – लंका को आप इतने ध्यान से क्यों देख रहे थे और फिर उसे जला क्यों दिया? हनुमानजी बोले – यदि वैद्य को बुलाया जाय और कहा जाय कि लगता है ये मर गये हैं, आप देखकर बताइए। अन्य लोग तो जरा-सी साँस बन्द हुई, तो कहेंगे कि यह मर गया है, पर डॉक्टर आयेगा, तो वह सारे शरीर को बड़ी सूक्ष्मता से देखेगा। हनुमानजी बोले – "मैं तो इसलिए ध्यान से देख रहा था कि वैद्य जलाने की आज्ञा तभी देगा, जब वह निश्चय कर ले कि यह मर गया है। मैं भी जलाने के पहले देख रहा था कि देह में कहीं कोई प्राण बचा तो नहीं है? इसीलिए मैंने ध्यान से देखा, तो मुझे लगा कि देह तो है, पर उसमें प्राण नहीं है।" किसी व्यक्ति की आँखें बड़ी सुन्दर हों, कान बड़े अच्छे हों, सारा शरीर बड़ा आकर्षक हो, पर अन्त में कह दिया जाय कि बस, इसमें प्राण नहीं है, तो फिर उसकी अन्तिम परिणति उसे जलाने कि सिवा और क्या हो सकती है?

लंका में राष्ट्र का बहिरंग ढाँचा नि:सन्देह ठीक दिखता है और उसमें बड़ा आकर्षण भी दीख पड़ता है, पर जब गहराई से पैठकर देखते हैं, तो स्पष्ट हो जाता है कि लंका के लोगों के मन में दुर्गण-दुर्विचार विद्यमान हैं। रावण के सद्भाव के पीछे भी उसके स्वार्थ की ही प्रेरणा है। जब वह लोगों को अच्छे घरों का बँटवारा करता है, राक्षसों को सुविधाएँ देता है, तो उसके मन में भगवत्सेवा या जनहित की भावना नहीं है। उसके अन्त:करण में तो अपने दूरगामी स्वार्थ की वृत्ति है। उसके स्वार्थ की नग्नता तब सामने आती है, जब लंका में वानरों तथा राक्षसों में घमासान युद्ध होने लगा और वानरों के प्रहार से राक्षस भागने लगे। बन्दरों के प्रहार से जब राक्षस भागे, तो पीछे तलवार लिये रावण खड़ा है। उसने भागते हुए राक्षसों से कहा – याद करो, कैसे-कैसे भवन मैंने तुम लोगों को दिए, कैसी चीजें मैंने तुम लोगों को खिलाई और जब लड़ने का समय आया तो भाग रहे हो! यदि पीछे हटे, तो मैं तुम्हारा प्राण लिये बिना नहीं छोड़ूँगा।

सर्बसु खाइ भोग करि नाना।
समर भूमि भए बल्लभ प्राना ।।

जो रन बिमुख सुना मैं काना ।
सो मैं हतब कराल कृपाना ।। ६/४२/८,७

जैसे कोई बकरे को खूब खिलाकर मोटा करे, पर उसका लक्ष्य हो कि मोटा होने पर जब इसका बलिदान करेंगे, तो अच्छा माँस मिलेगा। तो वह क्या दया से वशीभूत होकर बकरे को खूब खिला रहा है। यही रावण की वृत्ति है; और उसके तथा श्रीराम के दर्शन में क्या अन्तर था? एक बार बन्दर भी भागने लगे। तब भगवान राम भी रावण की ही भाषा का प्रयोग कर सकते थे! कह सकते थे – भागोगे, तो हम बाण से तुम्हारे प्राण ले लेंगे। पर भगवान राम ने बन्दरों को भागते देखकर कहा – सुग्रीव, विभीषण, लक्ष्मण, तुम लोग जरा सेना को सँभालो। – तो महाराज, लड़ेगा कौन? प्रभु बोले – लड़ने के लिये मैं आगे जा रहा हूँ –

सुनु सुग्रीव बिभीषन अनुज सँभारेहु सैन ।
मैं देखउँ खल बल दलहि बोले राजिवनैन ।। ६/६७

परिणाम क्या हुआ? एक बार ऐसी स्थिति आ गई, जब बन्दर भी थक गये और राक्षस भी। पर न बन्दर पीछे हट रहे हैं, न राक्षस। बन्दर तो इसीलिए पीछे नहीं हट रहे हैं कि श्रीराम इतने उदार हैं कि हमारी कायरता पर भी उन्हें क्रोध नहीं आया। ऐसे परम उदार स्वामी के लिए हमारे प्राण चले जाएँ, तो भी हम पीछे नहीं हटेंगे। और राक्षस डर के मारे पीछे नहीं हट रहे हैं कि पीछे रावण खड़ा हुआ है, प्राण ले लेगा। भागकर जायेंगे कहाँ? भगवान ने देखा कि बन्दर भी थके हुए हैं और राक्षस भी, तो उन्हें बन्दरों की ही चिन्ता होनी चाहिए थी। राक्षस तो उनके प्रतिद्वन्दी हैं। पर श्रीराम दोनों सेनाओं के बीच खड़े हो गये और रावण को निमंत्रण देकर कहा – आओ, हम दोनों लड़ेंगे। सेनाओं से बोले – मैं जानता हूँ कि आप सब थक गए हैं। आप विश्राम लीजिए।

द्वंदजुद्ध देखहु सकल श्रमित भए अति बीर ।। ६/८९

रावण की पराजय तो उसकी अपनी वृत्ति की ही पराजय थी। रामायण में रामराज्य के मूल चिन्तन की दृष्टि से लंका पूर्ण राज्य नहीं है। रावण-राज्य व्यवस्थित तो है, पर राम-राज्य माने व्यवस्था का राज्य नहीं है। इस सन्दर्भ में अनेक वर्ष पूर्व हुई एक बात मुझे नहीं भूलती – किसी न्यायाधीश ने कथा का आयोजन किया। मैंने पूछा – किस प्रसंग पर बोलूँ, तो कहा – रामराज्य में न्याय व्यवस्था पर प्रकाश डालिए। न्यायाधीश थे, उन्होंने अपने ही अनुकूल प्रसंग चुना। मैंने प्रारम्भ यहीं से किया कि मैं आपको बड़ा निराश करूँगा, क्योंकि रामराज्य में एक भी न्यायाधीश नहीं था। रामराज्य की व्यवस्था अच्छी थी, पर इसीलिये नहीं कि उसमें न्यायाधीश बड़ी संख्या में थे। आजकल हमारी समस्या यह है कि प्रतिवर्ष न्यायाधीश बढ़ने चाहिए, पुलिस बढ़नी चाहिए, अस्पताल बढ़ने चाहिए। बढ़ना अच्छा है, बढ़ना बुरा नहीं है। इससे लगता है कि राष्ट्र को चिन्ता है। पर इसको उलट कर देखिए – यदि न्यायाधीशों की संख्या बढ़ानी पड़े, तो इससे यही सिद्ध होता है कि झगड़े बढ़ते जा रहे हैं। यदि पुलिस की संख्या बढ़ती जाय, तो इससे सिद्ध हो रहा है कि चोरी, डाके, अपराधों की संख्या बढ़ती जा रही है।

पर रामराज्य कोई ऊपर से लादी हुई व्यवस्था नहीं है। रामराज्य का अभिप्राय है भीतर से ऐसे परिवर्तन की व्यवस्था, जिससे बहिरंग व्यवस्था का अभाव हो जाय। समाज ऐसा स्वस्थ हो कि धीरे-धीरे चिकित्सकों की संख्या कम हो जाय। ऐसा समाज जिसमें संघर्ष और झगड़े न हो, जहाँ लोगों के मन में परस्पर टकराने की वृत्ति ही न हो और न्यायधीशों की संख्या धीरे-धीरे कम होती जाय। आप जानते हैं कि रामराज्य में एक भी न्यायाधीश नहीं था। पूछा गया कि कभी कोई झगड़ा आया या नहीं? तो बड़ी सांकेतिक भाषा में कहा गया। दो बार आये – एक बार गिद्ध और उल्लू अपना विवाद लेकर आए और दूसरी बार एक कुत्ता आया।

बड़ी सांकेतिक भाषा चुनी गई है। गिद्ध और उल्लू कोई व्यक्ति तो थे नहीं, पक्षी थे और पक्षियों के स्वभाव से ही दो पक्ष होते हैं। भगवान राम ने उन दोनों से पूछा – तुम कब से उस वृक्ष पर रहते हो? एक ने कहा – जब से आदि सृष्टि हुई, तब से; और दूसरे ने कहा – जब से वृक्ष बने, तब से। भगवान बोले – जिसने वृक्ष कहा, उसी का अधिकार है। दूसरे ने इसे स्वीकार कर लिया। इसमें संकेत क्या है? रामराज्य में व्यक्ति-व्यक्ति के बीच कोई संघर्ष ही नहीं है। पक्षियों में भी गीध और उल्लू, जो सबसे निम्न कोटि के पक्षी है, उन्हीं में विवाद दिखाई देता है। पर विवाद होने पर भी श्रीराम के न्याय पर उनको इतना विश्वास है कि उन्होंने एक वाक्य में जो न्याय कर दिया, वही उन्हें स्वीकार है।

दूसरे विवाद के रूप में एक कुत्ते ने आकर श्रीराम के समक्ष एक ब्राह्मण के विषय में शिकायत की। यहाँ भी हम देखते हैं कि व्यक्ति-व्यक्ति के बीच कोई विवाद नहीं, झगड़ा कुत्ते और ब्राह्मण के रूप में आया। चुनाव कितना अच्छा है! ब्राह्मण सबसे ऊपर का वर्ण माना जाता था और कुत्ता तो पशुओं में भी बड़ा निकृष्ट माना जाता है। पर भगवान राम की विलक्षणता देखिए। जब कुत्ते ने उनसे कहा – "ब्राह्मण ने अकारण ही मुझ पर लाठी से प्रहार कर दिया। आप कृपया इसका न्याय कीजिए।" तो भगवान ने ब्राह्मण से पूछा। ब्राह्मण ने कहा – "हाँ, मुझसे ऐसी भूल हुई है। मार्ग में इसे बैठे देखकर मैंने इस पर लाठी चला दी।" इस पर भगवान राम ने एक अनोखा कार्य किया। उन्होंने न्याय स्वयं नहीं किया, बल्कि कुत्ते को ही न्यायाधीश बना दिया और कहा – अब तुम्हीं दण्ड का फैसला करो। भगवान का एक पक्ष पर कितना विश्वास है कि उसी को न्याय करने का

अधिकार दे देते हैं। आगे की कथा बड़ी व्यंग्यात्मक है। कुत्ता बोला – इनको कालिंजर मठ का महन्त बना दीजिए। सभा में सबको आश्चर्य हुआ कि यह दण्ड मिल रहा है या पुरस्कार ! कुत्ते ने कहा – पिछले जन्म में मैं भी उसी मठ का महन्त था। मैंने वहाँ की चीजों का दुरुपयोग किया, इसलिए मुझे कुत्ता बनना पड़ा। मैं सोचता हूँ कि यह असावधान हैं, तो यह भी मेरी ही भाँति इसी योनि में आएगा।

रामराज्य कोई व्यवस्था की विशेषता नहीं है, बल्कि इसका लक्ष्य है कि समाज में व्यवस्था की आवश्यकता कैसे कम हो या मिट जाय। महत्त्वपूर्ण सूत्र यह है कि इसमें राज्य व्यक्ति का नहीं होगा। राम ब्रह्म है, साक्षात् ईश्वर है और वे ही सम्पूर्ण जगत् तथा इसकी सारी सम्पत्तियों के स्वामी है। जब तक हमारे मस्तिष्क में यह परिवर्तन नहीं होता, जब तक हम स्वयं को व्यक्तिगत रूप से वस्तु का स्वामी मानेंगे और तब तक छीना-छपटी बनी रहेगी। रामराज्य का अर्थ है ईश्वर का राज्य – जो कुछ है वह केवल ईश्वर का है। शासन चलानेवाले के मन में अपने राज्य की जगह यह वृत्ति हो कि राज्य तो ईश्वर का है, मैं तो केवल प्रशासक हूँ और इसी की सम्पूर्ति भरत के जीवन में दिखाई देती है।

भरत चौदह वर्ष तक अयोध्या का राज्य चलाते हैं, पर सिंहासन पर नहीं बैठते। यही सबसे बड़ा सूत्र है। व्यक्ति व्यवहार चलावे, पर स्वामी नहीं बल्कि सेवक के रूप में। भरतजी ईश्वर की ओर से राज-काज चलाते हैं –

नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदयँ समाति।
मागि मागि आयसु करत राज काज बहु भाँति ।। २/३२५

इसी सूत्र की दूसरी परिणति अयोध्याकाण्ड के प्रारम्भ में दिखाई देती है। अयोध्या में जब रामराज्य बनाने की चेष्टा की गई, तो कुछ ऐसी समस्या खड़ी हो गईं, जिसके फलस्वरूप वह घड़ी चौदह वर्षों के लिये टल गई। जो विघ्न आया, वह केवल त्रेता युग का ही नहीं, सार्वकालिक सत्य है। घटनाक्रम से तो यही लगता है कि यदि मन्थरा न होती, तो अगले दिन श्रीराम सिंहासन पर बैठ जाते और रामराज्य हो जाता। लंका में सूर्पणखा का होना विचित्र नहीं लगता, पर अयोध्या में मन्थरा का होना आश्चर्यजनक लगता है। लंका में दुर्गुण-दुर्विचार या राक्षसों का राज्य है, पर अयोध्या में सद्गुण हैं और श्रेष्ठ विचार हैं। पर याद रहे, **कितना भी अच्छा नगर क्यों न हो, कितना भी अच्छा व्यक्ति क्यों न हो, उसके जीवन में मन्थरा होती ही है।** जब तक मन्थरा पर विजय प्राप्त नहीं होगी, तब तक रामराज्य नहीं बनेगा। वह तब भी थी, आज भी है और हर युग में बनी रहेगी। रामराज्य में बाधक होनेवाली मन्थरा की विचारधारा क्या है? इसे हम दार्शनिक भाषा में कहें, तो मन्थरा है भेदबुद्धि – अपने और पराये की बुद्धि। वह चाहती है – राज्य राम का न होकर, भरत का हो। श्रीराम ब्रह्म है और भरत जीव है। दोनों एक जैसे हैं। दोनों में कोई रंचमात्र भेद नहीं है। भगवान राम यही कहते हैं – भरत में और मुझमें कोई अन्तर नहीं है –

भरतहि मोहि कछु अन्तर काहू ।। ७/३६/७

परन्तु मन्थरा को भेद दिखता है। उसका तर्क है कि राम कौशल्या के और भरत कैकेयी के बेटे हैं। वह चाहती तो भेदबुद्धि मिटा सकती थी। यदि वह सोचती कि राम और भरत – दोनों दशरथ के बेटे हैं, तो उनमें अभिन्नता दिखती। पर वह अभिन्नता के सूत्र को नहीं भिन्नता के सूत्र को पकड़ती है। कौशल्या और कैकेयी सौत है। इन दोनों में सौतिया डाह होना ही चाहिए। कैकेयी में भी जो परिवर्तन आया, भेदबुद्धि आयी, इसका कारण यह था कि उन्होंने श्रीराम को ईश्वर के रूप में नहीं, अपितु एक अच्छे व्यक्ति के रूप में देखा। यदि वे श्रीराम को ईश्वर के रूप में देखतीं, तो मन्थरा उनके मन में राम के चरित्र के विषय में सन्देह नहीं जगा पाती। पर मन्थरा भेदबुद्धि दिखाने की कला में निपुण है। वह अपने-पराये का भेद, ईश्वर और जीव का भेद, उसके द्वैत को सामने लाती है और कैकेयी के रूप में बुद्धि प्रभावित हो जाती है, जिससे रामराज्य बनते-बनते रह जाता है।

यही बड़े महत्त्व का सूत्र है। हमारे सामने समस्या यह है कि जो संसार दिखाई दे रहा है, उसमें भेद-ही-भेद है। भेद होना स्वाभाविक है और जब तक भेद है, तब तक संघर्ष मिट नहीं सकता। यदि संसार पर दृष्टि जाये, तो भेद ही सत्य लगेगा और यदि ईश्वर पर दृष्टि चली जाय, तो अभेद दिखेगा, अद्वैत दिखेगा। व्यक्ति की सबसे कठिन समस्या यह है कि विचार की दृष्टि से तो वह अद्वैत का समर्थन करता है, पर व्यवहार में उसे पग-पग पर भेद ही दिखाई देता है। भेद चाहे देश के नाम पर हो, जाति के नाम पर हो, या परिवार के नाम पर, पर चारों ओर भेद-ही-भेद व्याप्त है।

चाहे पारमार्थिक दृष्टि से विचार करके देख लीजिए या व्यावहारिक दृष्टि से। पारमार्थिक दृष्टि से हम देखें कि समस्त भेद में कोई अभेद-अव्यक्त तत्त्व है या नहीं? और व्यावहारिक दृष्टि से भी सारे झगड़े की जड़ अपने-पराए का भेद ही है। तो फिर यह भेद कैसे नहीं आयेगी? मन्थरा बाद में भी बची रही, मारी नहीं गई। उसका अर्थ है कि व्यवहार में भेद को पूरी तरह से मिटाना सम्भव ही नहीं है। पर भेद होते हुए भी, जब तक भेद के साथ अभेद का समंजस्य नहीं होगा, तब तक रामराज्य नहीं बनेगा।

❖ (क्रमशः) ❖

चापलूसी और प्रशंसा

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिये विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा प्रसारित किये गये तथा लोकप्रिय भी हुए। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। – सं.)

चापलूसी का आज के जमाने में बड़ा बोलबाला है। जो काम योग्यता के बल पर नहीं हो पाता, चापलूसी उसे आसान बना देती है। इसलिए आजकल सर्वत्र झुकाव चापलूसी की ओर दिखाई पड़ता है। विद्यार्थी जब देखता है कि परीक्षा में उत्तीर्ण होना उसके बूते की बात नहीं है, तो वह सम्बन्धित शिक्षक की चापलूसी करना शुरू कर देता है। जब मातहत देखता है कि पदोन्नति की योग्यता उसमें नहीं है, तो सम्बन्धित अधिकारी की चापलूसी में लग जाता है। मेरे एक परिचित है, जो कहते है कि आज शिक्षा में एक पाठ्यक्रम चापलूसी का भी होना चाहिए और उसे अनिवार्य रखा जाना चाहिए, क्योंकि आज चापलूसी किसी भी क्षेत्र में आगे बढ़ने का आवश्यक तंत्र बन गयी है। और चूँकि सभी लोगों को चापलूसी करना नहीं आता, इसलिए वह पाठ्यक्रम में अनिवार्य बना दिये जाने से एक अभाव की पूर्ति हो सकेगी।

दुनिया में दो प्रकार के लोग ही चापलूसी करते देखे जाते हैं - एक तो वे हैं जिनका पेशा ही चापलूसी है और दूसरे वे हैं जो योग्यता के अभाव में इसका सहारा लेते हैं। पहली श्रेणी के अन्तर्गत वे आते हैं, जिन्हें हम भाट या दरबारी कहते हैं। इनका पेशा ही मालिक को खुश करना होता है और इसके लिए वे सब प्रकार की बातें कह सकते हैं। दूसरी श्रेणी के अन्तर्गत वे लोग हैं, जिनमें योग्यता नहीं होती और वे अपनी इस कमी को पूरा करने के लिए चापलूसी का अस्त्र पकड़ते हैं। इन्हें आजकल की भाषा में चमचा भी कहते हैं। आजकल पहली श्रेणी के लोगों की संख्या घट रही है, जबकि दूसरी श्रेणी के लोग बेतहाशा बढ़ रहे हैं, अपना स्वार्थ साधने के लिए चापलूसी का दामन थाम रहे हैं। चापलूसी और प्रशंसा इन दोनों में अन्तर है। वैसे चापलूसी में भी प्रशंसा ही होती है, पर चापलूस को प्रशंसक नहीं कहा जा सकता। हो सकता है कोई व्यक्ति अतिरंजित प्रशंसा करने का आदी है, पर इसी कारण यह आवश्यक नहीं कि वह चापलूस हो। प्रशंसक और चापलूस में अन्तर यह है कि प्रशंसक केवल प्रशंसा-योग्य गुणों की ही प्रशंसा करता है, जबकि चापलूस मनुष्य की कमियों और दुर्गुणों को भी प्रशंसा की चासनी में लपेट दिया करता है। चापलूस जानता है कि व्यक्ति में यह कमी है या उसमें यह दुर्गुण है, पर अपने स्वार्थ को साधने के लिए वह उस कमी या दुर्गुण को उसकी अच्छाई के रूप में पेश करता है।

जब मैं किसी व्यक्ति की चारित्रिक कमी को जानता हूँ, तो मेरा एक तरीका यह हो सकता है कि मैं उसे नजरअन्दाज कर दूँ। पर चापलूस उसे नजरअन्दाज नहीं करता, बल्कि उस पर गुण का मुलम्मा लगाता हुआ उसे व्यक्ति के सामने पेश करता है। चापलूस की एक खासियत और होती है - वह सामने तो कमियों और दुर्गुणों को गुण के रूप में प्रस्तुत करते हुए व्यक्ति की प्रशंसा करता है, पर पीठ पीछे बुराई करने से भी नहीं चूकेगा। इसीलिए ऐसा चापलूस जब देखता है कि उसका स्वार्थ सध नहीं रहा है, तो वह उस व्यक्ति का शत्रु हो जाता है और उसके अहित-साधन की भी चेष्टा करता है।

यह चापलूसी, यह चाटुकारिता एक मानसिक रोग है। जो चापलूस है और जो चापलूसी-पसन्द है, वे दोनों ही मानसिक दृष्टि से रोगी होते हैं। ऐसे लोग वस्तुनिष्ठ फैसला नहीं ले पाते। चापलूस व्यक्ति स्वाभिमान से रहित होता है, उसकी बुद्धि ओछी होती है। आत्मप्रशंसा-प्रिय व्यक्ति चट चापलूसों के फन्दे में पड़ जाता है और अन्ततोगत्वा अपना विनाश कर बैठता है। ऐसा व्यक्ति कान काक?ा ह्लकं होता है। इससे बचने के लिए सबसे पहले व्यक्ति को यह भान होना चाहिए कि उसे आत्मप्रशंसा का रोग लग गया है और यदि वह इस रोग से छुटकारा पाना चाहता है तो उसे आत्मविश्लेषण करना सीखना होगा।

आत्मविश्लेषण चापलूसी की रामबाण दवा है। वह हमारा ध्यान अपनी कमियों की ओर आकर्षित करता है। आत्मविश्लेषण एक साफ दर्पण के समान है, जिसमें हम अपने सही रूप में दिखाई देते हैं। जो अपने को सही रूप में देख सकता है, वह कभी भी चापलूसी का शिकार नहीं होता हो सकता। फलस्वरूप, वह अन्याय-अविचार से बच जाता है और साथ ही धन की बरबादी से भी, क्योंकि चापलूस लोग तो आखिर भौतिक लाभ के लिए ही चापलूसी पसन्द व्यक्ति को घेरे रहते हैं। ❑❑❑

महाभारत के कुछ प्रेरक प्रसंग

स्वामी अखण्डानन्दजी सरस्वती

भक्तों का गर्वनाश

भगवान दीनता से प्रेम करते हैं, अभिमान उन्हें अप्रिय लगता है। एक बार भगवान श्रीकृष्ण ने एक साथ ही अपने तीन पार्षदों का अभिमान दूर किया था। सत्यभामा को अभिमान था कि उनसे सुन्दर कोई स्त्री है ही नहीं। गरुड़ को अभिमान था कि उनके वेग की कोई समानता नहीं कर सकता। सुदर्शन-चक्र को अभिमान था कि वही द्वारकापुरी की रक्षा करता है। श्रीहरि तो गर्वहारी हैं। उन्होंने इन तीनों के गर्व को दूर करने का निश्चय किया।

उन्होंने गरुड़ को आज्ञा दी, "हनुमानजी को बुला लाओ।"

गरुड़ मन्दराचल पर पहुँचे और उन्होंने हनुमानजी से कहा, "आपको भगवान ने द्वारका बुलाया है। झटपट मेरी पीठ पर बैठ जाइये।"

हनुमानजी बोले, "आप चलिये, मैं आ रहा हूँ। मैं आपसे पहले ही पहुँच जाऊँगा।"

गरुड़ – "आप समझते तो हैं नहीं। द्वारका यहाँ से बहुत दूर है। कूदते-फाँदते भी आप चलेंगे, तो मार्ग में कई दिन लग जायँगे। मेरी गति वायु से भी तीव्र है। मैं आपको अभी पहुँचा दूँगा।"

हनुमानजी – "आप हठ मत करें। मैं कुछ क्षण पीछे चलूँगा। मुझे वाहन की आवश्यकता नहीं पड़ा करती।"

गरुड़ – "भगवान ने मुझे आज्ञा दी है कि आपको बुलाकर लाऊँ। आप चुपचाप पीठ पर नहीं बैठेंगे, तो मैं आपको बलपूर्वक पकड़कर ले जाऊँगा।"

गरुड़ की बात से हनुमानजी समझ गये कि इन्हें गर्व है और मेरे प्रभु मेरे द्वारा ही इनका गर्व दूर करना चाहते हैं। अत: उन्होंने गरुड़जी के पंख पकड़कर जो फेंका, तो वे समुद्र में जाकर गिरे। हनुमानजी ने छलाँग लगायी और द्वारका पहुँच गये।

उधर श्रीकृष्ण चन्द्र ने चक्र से कहा था कि वह नगर में किसी को आने न दे और सत्यभामाजी से कहा, "आज हनुमानजी को बुलाया है। उनके सम्मुख तो मुझे श्रीराम के रूप में रहना है, किन्तु अकल्पनीय सौन्दय-मूर्ति श्री जानकीजी के स्थान की पूर्ति कैसे होगी?" सत्यभामा ने कहा, "मैं सीता बनकर आपके साथ बैठूँगी।"

हनुमानजी द्वारका पहुँचे, तो चक्र ने उन्हें नगर में जाने से रोका। हनुमानजी ने कहा, "मुझे भगवान ने बुलाया है। गरुड़ पीछे आ रहे हैं। तुम उनसे पूछ लेना।"

लेकिन चक्र ने जब इतने पर भी मार्ग नहीं छोड़ा, तो पवनपुत्र ने उसे पकड़कर अपने मुख में रख लिया। वहाँ से वे भगवान के निज सदन में गये।

सिंहासन पर आसीन श्रीकृष्ण-सत्यभामा को देखकर हनुमानजी ने श्रीकृष्णचन्द्र के चरणों में मस्तक रखकर प्रणाम किया, किन्तु सत्यभामा की ओर ध्यान ही नहीं दिया।

श्रीकृष्ण ने पूछा, "हनुमान, आज तुम चुप क्यों हो?"

हनुमानजी ने चक्र को मुख से बाहर निकाला और बोले, "यह मार्ग में मुझे रोक रहा था। अत: इसे मुख में रखना पड़ा, किन्तु प्रभो, आज आपने महारानी श्री विदेह-नन्दिनी के स्थान पर यह किस दासी को बैठा लिया है?"

सत्यभामाजी तो यह सुनते ही सिंहासन से उठ गयीं।

श्याम-सुन्दर हँसे और बोले, "यह तो हमारे घर की अपनी बात है। लेकिन कोई तुम्हें बुलाने भी तो गया था।"

हनुमानजी – "गरुड़ बहुत मन्दगामी है। इसीलिये वे पीछे आ रहे होंगे।"

उसी समय गरुड़ भी आ गये। उन्होंने हनुमानजी के शब्द सुन लिये थे। लज्जा से उनका मस्तक झुक गया।

श्रीकृष्ण की मित्र-वत्सलता

एक बार अर्जुन और हनुमानजी की भेंट हुई। हनुमानजी ने भगवान श्रीराम का गुणगान प्रारम्भ किया, तो अर्जुन बोले, "अन्य सब गुण तो ठीक है, परन्तु समुद्र पर सेतु बनाने के लिये वानर-रीछों को इतना कष्ट देकर पर्वत-वृक्ष रामजी ने मँगवाये, नल-नील को इतना श्रम हुआ, यह बात मुझे ठीक नहीं लगी।"

हनुमानजी – "तुम होते, तो क्या करते?"

अर्जुन – "मैं वाणों से समुद्र पर सेतु बना देता।"

हनुमानजी – "लेकिन तुम यह नहीं समझते कि तुम्हारा वाणों का पुल मेरा भार भी नहीं सह सकता। श्रीराम की सेना में तो मेरे जैसे असंख्य वानर थे।

अर्जुन – "मैं सामने के सरोवर पर वाणों से अभी पुल बनाता हूँ। आप उस पर जितना चाहे, उछल-कूद लीजिये। पुल टूट जाय, तो मैं धनुष हाथ में लेना बन्द कर दूँ।"

अर्जुन ने सरोवर पर वाणों की वर्षा करके पुल बना दिया: परन्तु हनुमानजी ने जब उस पाँव रखा, तो पुल चरमरा उठा। अर्जुन डरे और मन-ही-मन श्रीकृष्ण का स्मरण करने लगे। पुल झुका, किन्तु टूटा नहीं।

हनुमानजी को आश्चर्य हुआ। उन्होंने ध्यान करके देखा और कूदकर किनारे आकर खड़े हो गये। वे अर्जुन से बोले, ''धनंजय, तुम धन्य हो। तुम्हारे वाणों में मेरा भार सहने की सामर्थ्य न थी; परन्तु जब उसके नीचे तुम्हारे मित्र ही पीठ लगा दें, तब भला कौन तुम्हारे पुल को तोड़ सकता है?''

अर्जुन कुछ कहें, इसके पहले ही भगवान श्रीकृष्ण हँसते हुए आ गये। उनकी पीठ पर वाणों के चिह्न थे। पीठ लगाकर उन्होंने ही तो पुल को टूटने से बचाया था।

भक्त-सेवक श्रीकृष्ण

महाभारत के युद्ध में भीष्म पितामह कौरवों के सेनापति बनकर युद्ध कर रहे थे; किन्तु पाण्डव पराजित नहीं होते थे। एक दिन युद्ध बन्द होने पर दुर्योधन भीष्म पितामह के शिविर में गया और उन्हें प्रणाम करके बोला, ''पितामह, यदि आपको पाण्डवों का ही पक्ष लेना था, तो मुझे पहले ही बता देते। मैं आप पर भरोसा करके तो नहीं बैठता!''

भीष्मजी को यह बात सुनकर बड़ा दु:ख हुआ। वे बोले, ''युवराज, यह बात ठीक है कि पाण्डु के धर्मात्मा पुत्र मुझे प्रिय हैं। तुम इस बात को जानते भी हो कि पाण्डवों पर मेरा स्नेह है। लेकिन युद्ध में मैं पूरी ईमानदारी से तुम्हारे विजय के लिये लड़ता हूँ।''

दुर्योधन – ''आप मेरी विजय के लिये सचमुच युद्ध करें और फिर भी पाण्डव मारे न जायँ, यह बात मेरे चित्त में बैठती नहीं। मैं तो तब आपकी ईमानदारी समझूँ, जब आप कल के युद्ध में पाण्डवों को मारने की प्रतिज्ञा करें।''

भीष्म पितामह ने अपने मन में 'श्रीकृष्णाय नम:' कहा और तूणीर में से पाँच वाण निकालकर बोले, ''यदि तुम्हारी ऐसी ही इच्छा है, तो कल के युद्ध में ये वाण मेरे धनुष से छूटते ही पाण्डवों को मारेंगे।''

दुर्योधन यह प्रतिज्ञा सुनकर प्रसन्न होकर चला गया। भीष्म पितामह दुखी होकर भगवान का ध्यान करने बैठ गये। पाण्डवों के जो जासूस लगे रहते थे, उन्होंने यह समाचार पहुँचाया, तो पाण्डव-पक्ष में शोक व्याप्त हो गया। भीष्म की प्रतिज्ञा कभी मिथ्या नहीं हो सकती, इस बात पर सबका विश्वास था। पाँचों पाण्डवों ने निश्चय कर लिया कि कल के युद्ध में प्राण खोना अवश्यम्भावी है। लेकिन द्रौपदी बहुत व्याकुल हो उठी, क्योंकि कल उसे विधवा होना पड़ेगा।

उसी समय श्रीकृष्ण वहाँ आ गये। सब बातें सुनकर बोले, ''कृष्णे, तुम मेरे साथ चलो!''

द्रौपदी ने चिढ़कर कहा, ''तुमको इस समय भी परिहास सूझता है! इस विपत्ति में, इस रात के समय कहाँ चलने को कहते हो?''

श्रीकृष्ण – ''तुम उठो और मैं जहाँ चलता हूँ, मेरे साथ चलो!''

पाण्डवों और द्रौपदी का श्रीकृष्ण पर अटल विश्वास था। द्रौपदी उठी और श्रीकृष्ण के पीछे चल पड़ी। श्रीकृष्ण ने दूर से भीष्म पितामह का शिविर दिखलाया और वहाँ जाने को कहा। वहाँ क्या करना है, यह भी समझा दिया। उसी शिविर में प्रतिदिन ब्राह्म मुहूर्त के प्रारम्भ में दुर्योधन की पत्नी पितामह को प्रणाम करने आती थी। पितामह नेत्र बन्द करके ध्यान कर रहे थे। द्रौपदी ने वहाँ जाकर आभूषणों की झंकार करके उनके चरणों में प्रणाम किया। भीष्म ने समझा कि दुर्योधन की पत्नी प्रणाम कर रही है, अत: बोले, ''पुत्री, सौभाग्यवती भव!''

अब द्रौपदी ने कहा, ''पितामह, आप सत्यप्रतिज्ञ हैं, किन्तु मैं आपकी किस बात को सत्य मानूँ? आपने मेरे पतियों को मारने की प्रतिज्ञा की है, यह सत्य है या अभी मुझे सौभाग्यवती होने का जो आशीर्वाद दिया है, वह सत्य है?''

भीष्म ने चौंककर नेत्र खोले और बोले, ''कृष्णे, तुम यहाँ?'' फिर दो क्षण रुककर बोले, ''पांचाली, सत्य तो श्रीकृष्ण की इच्छा ही है। वे जो चाहते हैं, उसे अन्यथा करने में कौन समर्थ है? मेरी प्रतिज्ञा रहे या जाय, उनकी इच्छा पूर्ण हो! तुम ये पाँचों वाण ले जाओ।''

भीष्म ने वाण द्रौपदी को दे दिये। उसी समय श्रीकृष्णचन्द्र वहाँ आये और बोले, ''गंगानन्दन, तुमने मेरे लिये अपनी प्रतिज्ञा छोड़ी है, तो कल दोनों दलों के सम्मुख तुम्हारे लिये मैं भी अपनी प्रतिज्ञा भंग करूँगा। पाण्डव जीवित रहेंगे और कृष्ण अपनी प्रतिज्ञा तोड़ेगा।''

पितामह हाथ जोड़कर बोले, ''लीलामय, आप व्रज में वंशी धारण करते थे, किन्तु आज इस पीताम्बर में आपने कौन-सा चमत्कार छिपा रखा है?''

श्याम सुन्दर हँसे। द्रौपदी के जूते नीचे डालकर बोले, ''मैं तो पाण्डवों का, द्रौपदी का और आप-जैसे भक्तों का सेवक हूँ। आप सबकी चरण-पादुका ढोने का सौभाग्य मुझे प्रतिदिन कहाँ मिल पाता है?''

ये कथाएँ, ये चरित्र केवल पढ़ने-सुनने के लिये नहीं हैं। इनका चिन्तन करो, तो तुम्हारा चित्र भगवान में लग जायगा।

(भक्तियोग से साभार)

मृड़ानी चट्टोपाध्याय

स्वामी प्रभानन्द

(श्रीरामकृष्ण के जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके सम्पर्क में आये और उनके अनुरागी बने। विद्वान् लेखक रामकृष्ण मठ तथा मिशन के महासचिव हैं। आपने अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के साथ उनकी पहली मुलाकातों का वर्णन किया है। वर्तमान लेख First Meetings with Sri Ramakrishna नामक अंग्रेजी ग्रन्थ से स्वामी श्रीकरानन्द जी द्वारा अनुवादित हुआ है। – सं.)

मृड़ानी पार्वतीचरण चट्टोपाध्याय की चतुर्थ सन्तान थीं। उनकी माता गिरिबाला देवी ने बँगला गीतों और संस्कृत श्लोकों की रचना करके, जिनमें से कुछ प्रकाशित भी हुए थे, अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया था। उन्हें फारसी तथा अँगरेजी का भी कुछ ज्ञान था और वे अपनी धार्मिक अभिरुचि तथा निष्ठा के लिए प्रसिद्ध थीं।

१८५७ ई. में बंगाल के हावड़ा जिले के शिवपुर नामक स्थान में जन्मी मृड़ानी का लालन-पालन भवानीपुर (कलकत्ता) में उनकी दादी के यहाँ परम्परागत हिन्दू धार्मिक परिवार में हुआ था। बचपन में प्रार्थना-पूजा तथा तप आदि में उसका विशेष लगाव देखकर परिवार के अन्य सदस्यों का ध्यान स्वाभाविक रूप से उसकी ओर आकृष्ट हुआ था। बच्ची मृड़ानी पर उसकी माता तथा दादी के धार्मिक स्वभाव ने निश्चय ही बहुत अधिक प्रभाव डाला होगा। उस कम उम्र में ही उसके हृदय में एक प्रबल धार्मिक लगन जाग उठी थी, जो उसमें आजीवन बनी रही और उसका मार्गदर्शन करती रही। बचपन से ही उसमें खाने-पहनने और बनाव-श्रृंगार आदि के प्रति उदासीनता थी। बचपन से ही वह शाकाहारी थी। मृड़ानी को दक्षिणी कलकत्ता के बिशप राबर्ट मिलमैन द्वारा स्थापित विद्यालय में भरती कराया गया, पर वह ज्यादा दिन वहाँ नहीं पढ़ सकी, क्योंकि वहाँ विद्यालय में हिन्दू मान्यताओं के प्रति ईसाई शिक्षकों का विद्वेषात्मक दृष्टिकोण उसे अच्छा नहीं लगता था। उसे अनेक संस्कृत श्लोक तथा गीता, चण्डी एवं महाभारत के अनेक चुने हुए अंश कण्ठस्थ हो गये थे। किशोरावस्था को प्राप्त होते ही उसके चित्त में संसार के प्रति विरक्ति और आध्यात्मिक जीवन के प्रति व्याकुलता प्रबल हो उठी।

दस वर्ष की आयु में उसकी अनायास ही सरल ब्राह्मण से भेंट हो गयी। उसने 'तुम्हें कृष्णभक्ति हो' कहकर उसे आशीर्वाद दिया। कुछ दिनों बाद उसकी भेंट फिर उस व्यक्ति से दक्षिणेश्वर के निकट एक बगीचे में हुई, जहाँ उसने उसे पवित्र मंत्र देकर दीक्षित कर दिया। इस घटना ने बालिका के हृदय में एक नयी ज्योति जला दी। परवर्ती काल में, उसके मन में यही विश्वास जन्मा कि श्रीरामकृष्ण ही उस सरल ब्राह्मण के रूप में उसे मिले थे। यह भी आश्चर्य की बात थी कि कुछ दिनों बाद उसके परिवार में ठहरी वृन्दावन की एक साधिका ने उसे राधा-दामोदर की शालग्राम मूर्ति भेंट की। मृड़ानी आजीवन उस शालग्राम की पूजा करती रही और उसमें उसे अपने प्रेम और पूजा के आधार भगवान की उपस्थिति का बोध होता रहा। इसके बाद से उसने अपने को सांसारिक कार्यों से अलग कर लिया और पूजा तथा ध्यान में अपने दिन बिताने लगी। बालिका की बढ़ती हुई आध्यात्मिक अभिरुचि तथा संसार के प्रति उदासीनता को देखकर उसकी विधवा माँ और अन्य रिश्तेदार चिन्तित हो उठे। तेरह साल की छोटी आयु में ही उसने साहसपूर्वक अपनी माता आदि से कह दिया था कि 'मैं उसी वर से शादी करूँगी, जो कभी मरे नहीं।' उसने पहले से ही श्रीकृष्ण को अपने अमर अलौकिक वर के रूप में चुन लिया था। छोटी बच्ची की जिद देख परिवार के मुखिया लोगों को आश्चर्य तो हुआ, पर उसकी आध्यात्मिकता की गहराई को न समझ पाने के कारण उन लोगों ने उसकी जबरन शादी कर देनी चाही। कहीं वह घर से भाग न जाय, इस आशंका से उन लोगों ने उसे ब्याह के एक दिन पूर्व कमरे में बन्द कर दिया, पर वह रात में किसी प्रकार निकल भागी। उसे खोजकर घर वापस लाया गया। माँ को छोड़ सबने उसे विवाह करने के लिए बाध्य किया। पर मृड़ानी अपनी उम्र के लिहाज से पर्याप्त दृढ़ता के साथ अपनी बात पर अड़ी रही। अन्त में परिवारवालों ने सब कुछ उसी की इच्छा पर छोड़ दिया।[१]

एकमात्र भगवान के लिए सब कुछ समर्पण कर देने की प्रबल इच्छा के कारण उसे क्षणिक सुख की सब इच्छाओं को त्याग देना पड़ा और वह बेचैन हो उठी। मृड़ानी को सन्तोष देने की दृष्टि से उसके रिश्तेदार उसे कुछ तीर्थों में लम्बे या थोड़े समय के लिए भेजने को राजी हो गये। साधु-जीवन बिताने की प्रेरणा से एक बार वह गंगासागर-यात्रा के समय अपने साथियों से चुपचाप अलग हो गयी। अठारह साल की युवती मृड़ानी हरिद्वार जानेवाली उत्तर भारत के संन्यासी और संन्यासिनियों की टोली में मिल गयी। वह उन लोगों की अलग-अलग टोलियों के साथ तब तक घूमती रही, जब तक उसने अकेले ही हर तरह खतरों और कठिनाइयों का सामना करते हुए भ्रमण करने का निश्चय नहीं बना लिया।

१. स्वामी विवेकानन्द ने एक बार लिखा था, "वह बहुत पवित्र है, बचपन से ही शुद्ध है – मुझे इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।"

गले से लटकी झोली में रखे दामोदर-शालग्राम ही उसके एकमात्र साथी और रक्षक थे। कुछ धार्मिक ग्रन्थ, चैतन्य महाप्रभु तथा काली के चित्र और कुछ रोजमर्रे के उपयोग की वस्तुएँ ही उसकी संगी थीं। उत्तर में कैलास-अमरनाथ से लेकर दक्षिण में रामेश्वरम-कन्याकुमारी तक और पश्चिम में द्वारका से लेकर पूर्व में कामाख्या तक के तीर्थों के भ्रमण से उसकी दृढ़ तथा निर्भीक आत्मा और अधिक शक्तिसम्पन्न हो गयी थी। अपनी यात्राओं के प्रथम दौर में वह नवद्वीप गयी थी, जहाँ उसे एक वैष्णव गुरु से दीक्षा के साथ गौरदासी[२] का नाम मिला था। पहाड़ों और घाटियों, शहरों और गाँवों में भ्रमण करने के दौरान, कभी तो वह अपने शरीर पर गेरुआ धारण करके रहती, कभी उस पर राख या मिट्टी चुपड़ लेती, और कभी पुरुषों की तरह लम्बा चोगा तथा पगड़ी पहने रहती। उसने अपने केश काटकर छोटे कर लिये थे। कभी-कभी उसे पागलों-जैसा अभिनय भी करना पड़ता। इस प्रकार उसने अपने जीवन के सात वर्ष तपस्या और तीर्थ-भ्रमण में बिताये। इस दौरान उसे कठिन परिस्थितियों और परीक्षा की घड़ियों से गुजरना पड़ा। ऐसी दशा में एक सामान्य नारी अपना सन्तुलन ही खो बैठती, पर उसने बड़ी मजबूती के साथ अपने आदर्श को पकड़ रखा था। परवर्तीकाल में, स्वयं इन कष्टप्रद तीर्थों का भ्रमण कर चुके एक साहसी युवक ने उससे पूछा था, "क्या सचमुच आपने इनकी यात्राएँ की थीं?" उसने भी हँसकर उत्तर दिया था, "क्यों नहीं, मैं तुम जैसे साहसी बेटों की माँ जो हूँ !"[३]

उसकी इन लम्बी यात्राओं के समय गाँव के सरल लोग उसे गौरमाई कहकर पुकारते, जो बाद में गौर-माँ या गौरी-माँ हो गया। बाद में श्रीरामकृष्ण और माँ सारदा उसे सिर्फ गौरदासी कहा करते। इन विभिन्न कष्टप्रद यात्राओं से उसे तरह-तरह के लोगों को समझने में बहुत सहायता मिली। पर सबसे महत्त्वपूर्ण बात थी, इन विभिन्न तीर्थों में, विशेषकर द्वारका में आध्यात्मिक अनुभूतियाँ प्राप्त करना।

पुरी में हरेकृष्ण मुकर्जी नामक एक वृद्ध सज्जन ने मृड़ानी से कहा, "बेटी, मैंने दक्षिणेश्वर में एक विलक्षण आभायुक्त मनुष्य को देखा है, जिसे प्राय: ही समाधि हुआ करती है। वह ईश्वरीय ज्ञान से पूर्ण है और दिव्य प्रेम बाँटता है।" कलकत्ता लौटने पर मृड़ानी बागबाजार में बलराम बोस के घर रुकी। बलराम मृड़ानी के बड़े भाई अविनाशचन्द्र के मित्र थे, इसलिए मृड़ानी उन्हें 'भैया' कहकर सम्बोधित करती। बलराम ने उसके समक्ष श्रीरामकृष्ण का उल्लेख किया। इससे पूर्व भी वे उसके समक्ष उनका उल्लेख कर चुके थे। पर मृड़ानी ने श्रीरामकृष्ण में कोई उत्सुकता नहीं दिखायी। उसने बात टालते हुए कहा, "मैंने बहुत से साधु-सन्त देखे हैं। यदि तुम्हारे सन्त में सामर्थ्य हो, तो वे मुझे खींच लें; नहीं तो मैं नहीं जाऊँगी।"

१८८२ ई. में जब मृड़ानी श्रीरामकृष्ण से मिली, उस समय उसकी आयु मात्र २५ वर्ष की थी। इसके पूर्व उसे कुछ विचित्र और महत्त्वपूर्ण अनुभूतियाँ हुई थीं। बलराम बाबू के यहाँ रहते हुए एक दिन मृड़ानी अपने पूजाघर में थी और श्रीनिवास दास द्वारा रचित एक पद गुनगुना रही थी।[४] वह दामोदर-शालग्राम का अभिषेक करने के बाद उन्हें पूजा के आसन पर रखने ही वाली थी कि सहसा उस आसन पर दो पदचिह्न दीख पड़े। जब उसने शालग्राम पर तुलसी-पत्र चढ़ाये, तो वे फिसलकर उन पदचिह्नों पर गिर पड़े। इस अपूर्व अनुभूति से वह गहन भावावस्था में पहुँच गयी, जिसमें वह घण्टों डूबी रही। सहजावस्था प्राप्त होने पर उसने ऐसा अनुभव किया मानो कोई उसे रस्सी से बाँधकर रहा हो। रात में मृड़ानी ने सपने में एक साधु पुरुष को देखा। उसने स्पष्ट सुना कि वे उसे बुला रहे हैं और एक बार फिर उसने अपने हृदय में एक तीव्र खिंचाव महसूस किया। अगले दिन सुबह ही वह बलराम बाबू, उनकी पत्नी, चुनीलाल बोस की पत्नी तथा अन्य लोगों के साथ दक्षिणेश्वर के लिए निकल पड़ी। बग्घी[५] जब दक्षिणेश्वर पहुँची, उस समय पौ फट रही थी। कमरे में प्रविष्ट होने पर उन लोगों ने देखा कि परमहंस अपने तखत पर बैठे एक लकड़ी में धागा लपेट रहे हैं। मृड़ानी ने देखा कि उनका मुखमण्डल दिव्यानन्द से आलोकित है और वे दिव्य भाव में डूबे हुए अपने सुमधुर कण्ठ से गा रहे हैं –

हे विकराल मुखवाली काली माता !
यशोदा तुम्हें 'नीलमणि' कहकर नचाया करती थी
वह कमनीय सुन्दर रूप तुमने कहाँ छिपा रखा है?
हे माँ, एक बार फिर वैसे नाचो न !
अपनी तलवार छोड़, हाथों में बाँसुरी लेकर
एक बार फिर वैसे नाचो न, माँ श्यामा !

धागा लपेटना हो जाने पर श्रीरामकृष्ण ने उस गोले को एक तरफ रख दिया। दूसरों से समान मृड़ानी ने भी उनके चरणों में प्रणाम किया। परमहंस के मुस्कुराते हुए मुख-मण्डल के प्रथम दर्शन ने ही उनके भीतर भाव का आलोड़न ला दिया, क्योंकि वह तत्काल पहचान गयी कि ये ही व्यक्ति

२. देखें रामचन्द्र दत्त लिखित 'श्री श्री रामकृष्ण परमहंसदेवेर जीवनवृत्तान्त' (बँगला), (काँकुड़गाछी, कलकत्ता : योगोद्यान, बंगाब्द १३१०), पृ. १२६। इसके बाद 'जीवनवृत्तान्त' ही कहेंगे। **३.** महेन्द्रनाथ दत्त : 'मातृद्वय' (बँगला), (कलकत्ता, महेन्द्र पब्लिशिंग समिति)।

४. द्रष्टव्य – दुर्गापुरी देवी कृत 'गौरी माँ' (बँगला), (कलकत्ता : श्री श्री सारदेश्वरी आश्रम, बंगाब्द १३४६), पृ. ७३। इसके बाद से इस केवल 'गौरी माँ' कहेंगे। **५.** अक्षयकुमार सेन के अनुसार यह टोली नाव द्वारा दक्षिणेश्वर पहुँची थी। द्रष्टव्य 'श्रीश्री रामकृष्ण पुंथी' (कलकत्ता : उद्बोधन कार्यालय, ५ वाँ संस्करण), पृ. ३०५।

हैं, जो बचपन में उसे मिले थे तथा उसे दीक्षा दी थी। उसे लगा कि उसे अपने भीतर जिस खिंचाव का बोध हो रहा था, वह एक अवर्णनीय आनन्द में परिवर्तित हो गया है। इसके बाद ज्योंही उसका ध्यान उनके चरणों की ओर गया, वह समझ गयी कि दामोदर के आसन पर बने पदचिह्न श्रीरामकृष्ण के ही थे। अब तो वह दिव्य प्रेम से अभिभूत हो गयी।

अन्य महिलाओं के समान मृड़ानी ने भी अपना चेहरा पल्लू से ढक रखा था। श्रीरामकृष्ण ने उसे घूँघट में से देखते हुए बलराम बाबू से उसके विषय में पूछा। उन्होंने बताया कि वह उनके एक मित्र की सबसे छोटी बहन है तथा उनके साथ परिवार के एक सदस्य-जैसी रह रही है। श्रीरामकृष्ण बोले, "ठीक है। यह यहीं की है। वह काफी पहले से परिचित है।"[६] (बाद में श्रीरामकृष्ण ने गौरदासी के बारे में कहा था, "वह कृपासिद्ध गोपी है।"[७]) बलराम बाबू की बातों से सन्तुष्ट होकर अब श्रीरामकृष्ण अपनी अपूर्व शैली में ईश्वर-चर्चा करने लगे। गौरदासी मुग्ध हो गयी। जब यह टोली विदा लेने लगी, तो श्रीरामकृष्ण ने अपनी मधुर वाणी में गौरदासी से कहा, "बिटिया, फिर आना!"

परमहंस देव का यह विदाई-वाक्य जैसे अन्य लोगों पर अपना गहरा प्रभाव डालता था, वैसे ही इसने उस पर भी अद्भुत प्रभाव डाला। बलराम बाबू के यहाँ लौटने पर भी उसका ध्यान श्रीरामकृष्ण तथा उनके सान्निध्य में बीते क्षणों में ही लगा रहा। अगले दिन सुबह वह गंगाजी में स्नान कर एक कपड़े की पोटली ले दक्षिणेश्वर को रवाना हो गयी। उसका दामोदर गले से लटकी झोली में था। श्रीरामकृष्ण दक्षिणेश्वर कालीमन्दिर के प्रमुख द्वार पर खड़े थे। उन्होंने उसका स्नेहपूर्ण स्वागत करते हुए कहा, "मैं अभी तुम्हारे बारे में ही सोच रहा था।" गौरदासी ने भावविभोर होकर उन्हें अपने व्यक्तिगत जीवन की कई बातें बतलायीं। उसने यह भी बतलाया कि कैसे उसने दामोदर के आसन पर श्रीरामकृष्ण के पदचिह्न देखे थे। अन्त में वह बोली, "यदि मुझे पहले ज्ञात हो जाता कि आपने स्वयं को लोगों से छिपाकर यहाँ रखा है, तो अच्छा होता!" श्रीरामकृष्ण ने मुस्कुराकर कहा, "तो तुमने जो सारी तपस्याएँ की हैं, उन्हें कैसे करतीं?" श्रीरामकृष्ण उसे नौबतखाने में ले गये, जहाँ श्री सारदादेवी रहा करती थीं। उन्हें सम्बोधित कर उन्होंने कहा, "देखो, यह कौन है? तुम एक संगिनी चाहती थीं न!" उसके बाद से गौरदासी कभी-कभी श्री सारदादेवी के साथ नौबतखाने में रह जाती। गौरदासी को श्रीरामकृष्ण में अपने माता-पिता – दोनों की ही झलक मिल जाती। वह कई प्रकार के व्यंजन बनाकर श्रीरामकृष्ण को खिलाती। कई बार नौबतखाने में अपने सुमधुर कण्ठ से भजन गाती, जिसे सुनकर श्रीरामकृष्ण देव बहुधा समाधिमग्न हो जाते।

अन्य भक्तों के समान ही मृड़ानी का हृदय भी श्रीरामकृष्ण के व्यक्तित्व से रँग उठा। वस्तुतः जब तक कि उसका समूचा व्यक्तित्व ही नहीं बदल गया, तब तक श्रीरामकृष्ण का प्रभाव उस पर अदृश्य रूप से कार्य करता रहा। श्रीरामकृष्ण ने उसके आध्यात्मिक कल्याण का भार अपने ऊपर ले लिया और वे उसे अध्यात्म के पथ पर आगे ले चले। उनके जीवन और उपदेशों ने उसके पवित्र हृदय में आध्यात्मिक-शक्ति संचरित कर दी और धीरे-धीरे उसका सम्पूर्ण जीवन परिवर्तित कर दिया। उसके अन्दर श्रीरामकृष्ण के प्रति गहरी श्रद्धा जग उठी, क्योंकि उसे यह अनुभव होने लगा था कि श्रीरामकृष्ण और श्रीचैतन्य महाप्रभु एक ही हैं। श्री सारदादेवी के प्रति भी उसकी वैसी ही गहरी श्रद्धा थी। एक बार उसने उनके बारे में कहा था, "श्री सारदादेवी मात्र उनकी लीला-सहधर्मिणी ही न थीं, वरन् उनमें उन्होंने जगदम्बा की पूजा की थी।... माँ सारदा के जीवन के महत्त्व को पूरी तरह से समझ लेने पर जगत् में निश्चय ही मुक्तिदायी प्रभाव पड़ेगा।"[८] उनके साहचर्य में गौरदासी को कई बार आध्यात्मिक अनुभूतियाँ हुई थीं। एक बार श्री सारदादेवी की उपस्थिति में श्रीरामकृष्ण ने विनोदपूर्वक गौरदासी से पूछा था कि वह उन दोनों में से किसे अधिक चाहती है। गौरदासी ने तुरन्त एक भजन के माध्यम से इसका उत्तर दिया –

हे बाँसुरी-बजैया कृष्ण,
निश्चय ही तुम राधा से बड़े नहीं हो।
जो संकट में हों वे भले ही तुम्हें पुकारें,
पर जब तुमको कष्ट होता है, तब तुम
अपनी बाँसुरी से राधा को ही पुकारते हो।।

सारदादेवी ने कुछ सकुचाते हुए गौरदासी का हाथ दबाया। श्रीरामकृष्ण दिल खोलकर हँसे और वहाँ से चले गये।

श्रीरामकृष्ण गौरदासी के बारे में कहते, "यदि कोई स्त्री संन्यास ग्रहण कर ले, तो वह स्त्री नहीं रहती, पुरुष बन जाती है।" सारदादेवी ने भी एक बार कहा था, "महापुरुष सर्वदा दुर्लभ ही होते हैं, उनकी कोई बराबरी नहीं। गौरदासी ऐसी ही विभूति है।"

गौरदासी श्रीरामकृष्ण को श्रीचैतन्य का अवतार ही मानती थी। उसकी एक आकांक्षा थी कि नवद्वीप में श्रीचैतन्य द्वारा बरसाये प्रेम की एक झलक मिल जाय। एक दिन श्रीरामकृष्ण को भोजन परोसते समय उन्होंने उसका परिचय एक परम भक्त केदारनाथ चटर्जी से करवा दिया। श्रीरामकृष्ण की कृपा से दोनों के भीतर उसी प्रकार के दिव्य प्रेम का संचरण होने

६. 'गौरी माँ', पृ. ७८; **७.** स्वामी सारदानन्द : 'श्रीरामकृष्ण-लीला-प्रसंग' (रामकृष्ण मठ, नागपुर), भाग २, सं. २००८, पृ. ७२१

८. स्वामी तपस्यानन्द, : श्री सारदा देवी, द होली मदर, श्रीरामकृष्ण मठ, मद्रास, १९६९, पृ. १९५

लगा, जैसा नवद्वीप में श्रीचैतन्य के भक्तों को होता था। प्रेम बड़ा संक्रामक होता है। न सिर्फ वे दोनों, बल्कि उपस्थित सभी लोग प्रेम में मतवाले हो कर पागलों की तरह आचरण करने लगे। इसके बाद श्रीरामकृष्ण ने पुन: उन लोगों का सहज अवस्था में ला दिया।[९]

गौरदासी एक दिन मन्दिर के बगीचे में फूल चुन रही थी। श्रीरामकृष्ण वहाँ आये और कहने लगे, "अच्छा गौरी, मैं जमीन पर पानी डालता हूँ, तुम मिट्टी सानो।" वह इस गूढ़ कथन का मर्म न समझ सकी। श्रीरामकृष्ण उसे समझाते हुए बोले, "मेरे कहने का अर्थ यह है कि इस देश की स्त्रियों की दशा बड़ी शोचनीय है। तुम्हें उनके लिए काम करना होगा।" यद्यपि उसे यह बात बहुत नहीं जँची, तो भी वह इस बात पर राजी हो गयी कि हिमालय के किसी निर्जन क्षेत्र में वह लड़कियों को शिक्षित कर सकेगी। पर वे उसे इतनी सहजता से छोड़नेवाले नहीं थे। उन्होंने जोर देकर कहा, "नहीं, नहीं ! तुम्हें इसी नगर में कार्य करना होगा। तुमने बहुत साधना कर ली है। अब स्त्रियों की सेवा में अपना जीवन लगा दो। उनकी दशा भयंकर है।" डॉक्टर सर्वपल्ली राधाकृष्णन् के शब्दों में, श्रीरामकृष्ण ने उसे वह संजीवनी देने का निश्चय किया, जिससे गौरदासी अपने संरक्षण में रखी बालिकाओं के कच्चे मन को गढ़ सके। कर्म और साधना का यह स्वस्थ मेल श्रीरामकृष्ण द्वारा प्रचारित नव-वेदान्त का सार है। अब वे गौरदासी के माध्यम से इसका व्यावहारिक रूप प्रदर्शित करना चाहते थे।

अपने लीलाकाल के अन्त-अन्त में श्रीरामकृष्ण को गले का कैंसर हो गया था। अन्त तक प्रसन्नचित्त और धैर्यवान रहकर उन्होंने अपने अन्तरंग अनुयायियों को प्रशिक्षित करने में अपने आपको व्यस्त रखा था। उन्होंने गौरदासी को एक विशेष प्रकार का अनुष्ठान करने को कहा और गौरदासी ने १८८६ के प्रारम्भ में वृन्दावन में रहकर उसे प्रारम्भ किया। उसकी यह साधना नौ महीने तक चली, पर उसके पूर्ण होने के पहले ही श्रीरामकृष्ण ने अपनी लीला संवरण कर ली। गौरदासी को यह जानकर और काफी दु:ख हुआ कि श्रीरामकृष्ण ने कलकत्ते के काशीपुर उद्यान में रहते समय कई बार उसे देखने की इच्छा प्रकट की थी। वह दु:ख के सागर में डूबने लगी और उसने कठिन तपस्या करके अपने जीवन को समाप्त करने का निश्चय किया, परन्तु श्रीरामकृष्ण ने दर्शन देकर उसे मना किया। श्री सारदादेवी जब वृन्दावन गयीं, तो वहाँ उन्होंने गौरदासी का पता लगवाया। उनकी भेंट उससे रावा की एक सुनसान गुफा में हुई। सारदादेवी के वृन्दावन से लौट आने पर भी गौरदासी लगभग दस वर्षों तक वहीं वृन्दावन के आसपास बनी रही। बीच में केवल कुछ समय के लिए वह दूसरी बार हिमालय-यात्रा पर गयी थी। कठोर तपस्या और आध्यात्मिक साधना ने, श्रीरामकृष्ण के माध्यम से हुई प्रभु-कृपा के साथ मिलकर, उसके भीतर के उच्च आध्यात्मिक रहस्यों को प्रकट कर दिया। उसके इस आध्यात्मिक विकास को कीट-डीम्ब से तितली बनने की तुलना दी जा सकती है। कीट-डिम्ब पत्तियों पर रहता है और धूप-पानी पा इल्ली रूप में बदलकर अन्त में सुन्दर तितली बन जाता है।

मृड़ानी – सन्त गौरी-माँ के रूप में परिवर्तित होकर एक आध्यात्मिक ज्योति-केन्द्र और श्रीरामकृष्ण की प्रकाशवाहक बन गयीं। १८९५ में उनके कलकत्ता वापस लौटने पर उनके यशस्वी जीवन का एक नया अध्याय खुल गया। वे वास्तव में श्रीरामकृष्ण की एकमात्र संन्यासिनी शिष्या थीं। सुनते हैं कि दक्षिणेश्वर में उनके रहते समय श्रीरामकृष्ण ने उन्हें गेरुआ वस्त्र प्रदान किया था और उनके आदेशानुसार ही गौरदासी ने संन्यास-दीक्षा का आयोजन किया था। ऐसा भी सुनते हैं कि उस पवित्र अग्नि में आहुति-स्वरूप श्रीरामकृष्ण ने स्वयं एक बिल्व-पत्र डाला था।[१०]

अपनी विस्तृत यात्राओं से देश की स्त्रियों की दयनीय स्थिति का उनका प्रत्यक्ष ज्ञान, उनकी विद्वत्ता, उनकी क्रियाशीलता तथा कार्य-संचालन की कुशलता, उनका आध्यात्मिक अनुभव और सर्वोपरि उनके गुरु का आदेश – इन सबने मिलकर उन्हें भारतीय नारियों को शिक्षा देने का कार्य अपने हाथ में लेने के लिए प्रेरित किया। अमेरिका से स्वामी विवेकानन्द द्वारा लिखे उत्साहपूर्ण पत्रों ने उन्हें वह दायित्व सँभालने के लिए प्रेरित किया। स्वामीजी ने अपने एक पत्र में स्वामी रामकृष्णानन्द को लिखा था, "स्त्रियों की व्यवस्था को बिना सुधारे जगत् के कल्याण की कोई सम्भावना नहीं है। पक्षी के लिए एक पंख से उड़ना सम्भव नहीं है।... इस कारण रामकृष्ण-अवतार में 'स्त्री-गुरु' को ग्रहण किया गया है, इसीलिए उन्होंने स्त्री के रूप और भाव में साधना की और इस कारण ही उन्होंने के नारियों के मातृभाव में जगदम्बा के रूप का दर्शन करने का उपदेश दिया।... इसलिए मेरा पहला प्रयत्न स्त्रियों के लिये मठ स्थापित करने का है। इस मठ से गार्गी और मैत्रेयी और उनसे भी अधिक योग्यता रखनेवाली स्त्रियों की उत्पत्ति होगी।"[११] अपने इस लक्ष्य को पाने के लिए स्वामीजी पहले उन्हीं का आश्रय लेना चाहते थे, जिन्हें श्रीरामकृष्ण ने स्वयं चुना था। १८९४ में स्वामी रामकृष्णानन्द को लिखे अपने एक अन्य पत्र में वे पूछते हैं, "गौरी-माँ कहाँ हैं? हजारों गौरी-माताओं की आवश्यकता है, जिनमें उन्हीं के समान noble stirring spirit (महान् एवं तेजोमय भाव) हो।"[१२] २७ अप्रैल, १८९६ को लिखे एक अन्य पत्र में

९. 'जीवनवृत्तान्त', पृ. १२६-२७

१०. 'गौरी माँ', पृ. १०३; **११.** 'विवेकानन्द साहित्य' सं. १९६३, खण्ड ४, पृ. ३१७; **१२.** वही, खण्ड ३, पृ. ३६१

स्वामीजी ने सुझाव दिया, "कृपया यह पत्र गौरी माँ, योगीन माँ आदि को दिखा देना और उनके द्वारा स्त्रियों का मठ स्थापित करवाना। एक वर्ष के लिए गौरी-माँ को उसका अध्यक्ष बनने दो।... वे अपना कार्य स्वयं सँभाले।"[१३]

इस प्रकार श्रीरामकृष्ण से प्रेरणा, श्रीमाँ सारदा के आशीर्वाद और स्वामी विवेकानन्द के पत्रों से उत्साह पाकर गौरी-माँ ने बैरकपुर में गंगातट पर कपालेश्वर में सारदेश्वरी आश्रम प्रारम्भ किया। शीघ्र ही संस्था बड़ा रूप लेने लगी, तब उसे १९११ में कलकत्ते के एक किराये के मकान में तथा १९२४ में उसके वर्तमान स्थान २६ नं. महारानी हेमन्त कुमारी स्ट्रीट, श्यामबाजार (कलकत्ता) में स्थानान्तरित कर दिया गया। श्रीरामकृष्ण और सारदादेवी के आगमन से इस देश में जो नवीन पुनर्जागरण प्रारम्भ हुआ, उससे स्त्रियों के विषय में बनी अन्धविश्वास की दीवार टूट गयी और देश भर में प्रगतिशील विचारों का ज्वार आ गया। सारदेश्वरी आश्रम ने बंगाल की सैकड़ों बालिकाओं और स्त्रियों के लाभ के लिए इस ज्वार को दिशा देकर एक मार्गदर्शक का कार्य किया।

गौरी माँ श्रीमाँ की विशेष स्नेहभाजन थीं। उनकी समर्पित सेवा और उनके उद्देश्य के बारे में श्रीमाँ ने एक बार कहा था, "गौरदासी अपने आश्रम की लड़कियों की खूब देखभाल करती है। यदि कोई बीमार हो जाय, तो स्वयं उसकी हर तरह से सेवा-शुश्रूषा करती है। अपने स्वयं के जीवन में उसे यह सब नहीं करना पड़ा, पर ठाकुर उसके द्वारा यह सब इसी ढंग से करा ले रहे हैं। यह उसका अन्तिम जन्म है।"[१४]

ठाकुर के इस संसार से लीला-संवरण के बाद उनके निर्देश गौरदासी में साकार हुए। वे याद करती कि श्रीरामकृष्ण ने उन्हें इस देश की नारियों की सेवा और उनसे प्रेम करने को कहा था। सारदादेवी का जीवन दैवी मातृ-भाव का प्रत्यक्ष उदाहरण था, जिससे धीरे-धीरे नारी-जाति की शक्ति जाग रही थी। श्रीमाँ सारदा से आशीर्वाद पा गौरी माँ ने अपने गौरवमय जीवन के अन्तिम चालीस साल जगन्माता के जीते-जागते मन्दिर – इस देश की कन्याओं – की अनलस सेवा में लगा दिये। और उनकी सेवा के पीछे श्रीरामकृष्ण का जीवन तथा उनके कार्यकलाप सदा प्रेरणा का स्रोत बने रहे।

सैकड़ों लोगों ने गौरी माँ से आध्यात्मिक मार्गदर्शन पाया था। वे अपने शिष्यों, साथियों और कर्मियों के लिए शक्ति-स्तम्भ-स्वरूप थीं। एक लेखक ने सच ही लिखा है, 'उपनिषद् जैसा चाहते हैं – बलवान, साहसी और दृढ़ इच्छा-शक्ति से सम्पन्न – वे वैसी ही थीं।... उनकी उपस्थिति मात्र से शक्ति संचारित हो उठती थी और निराश हृदयों में साहस एवं आशा जाग उठती।... उनमें जैसी शक्ति थी, वैसी तो पुरुषों में भी दुर्लभ होती है।[१५] भारतीय गृहिणियों को उद्‌बोधित करते हुए गौरी माँ ने कहा था, "माताओ, यह मत भूलो कि समाज की वर्तमान अवस्था में शान्ति, पवित्रता और चारित्रिक दृढ़ता के द्वारा समाज जीवन में सन्तुलन बनाये रखने की सबसे बड़ी जिम्मेदारी तुम लोगों पर है।"[१६]

२८ फरवरी, १९३८ को शिवरात्रि के दिन अस्सी-वर्षीया संन्यासिनी गौरी-माँ ने बतलाया कि वह श्रीरामकृष्ण का दुर्निवार खिंचाव पुन: अनुभव कर रही हैं। रात्रि के समाप्त होते होते गौरी-माँ ने अपने दामोदर को मँगवाया। जब दामोदर को लाया गया, उनके मुख से उद्‌गार निकला, "कितना सुन्दर है। मैं एकदम साफ देख पा रही हूँ – चाहे आँखें खुली रखूँ या बन्द। मैं सर्वदा देख रही हूँ।" उन्होंने शालग्राम अपने माथे से छुलाया, फिर हृदय से लगाया और फिर आश्रम की प्रमुख को सौंप दिया। दूसरे दिन उन्होंने देह त्याग दी। इस महिला-सन्त के मौन-सम्पर्क में आकर कितने लोगों का जीवन परिवर्तित हो गया इसको भला कौन आँक सकता है। उनके सन्तत्त्व, प्रेरणादायक व्यक्तित्व और अथक परिश्रम ने न केवल रामकृष्ण-भावधारा के प्रसार में वरन् भारतीय नारीत्व के जागरण के इतिहास में भी उनका एक महत्त्वपूर्ण स्थान बना दिया है।

१३. वही, भा. ४, पृ. ४०२; **१४.** ऐट होली मदर्स फीट, हर डाइरेक्ट डिसाइपल्स, अद्वैत आश्रम, मायावती, १९६३, पृ. १८८

१५. द डिसाइपल्स ऑफ श्रीरामकृष्ण, अद्वैत आश्रम, मायावती, १९५५, पृ. ४८९; **१६.** गौरी माँ एण्ड हर मिशन (अंग्रेजी), सारदेश्वरी आश्रम, कलकत्ता, १९५८, पृ. २३

निष्काम कर्म का उद्देश्य

निष्काम कर्म एक उपाय है – उद्देश्य नहीं, जीवन का उद्देश्य है ईश्वर-प्राप्ति। कर्म आदिकाण्ड है – वह उद्देश्य नहीं हो सकता। कर्म को जीवन का सर्वस्व मत समझो। ईश्वर से भक्ति के लिए प्रार्थना करो। यदि सौभाग्यवश भगवान तुम्हारे सामने प्रकट हो जाएँ, तो क्या तुम उनसे अस्पताल-दवाखाने, कुएँ-तालाब, सड़क, धर्मशालाएँ – इन्हीं सब के लिए प्रार्थना करोगे? नहीं, ये सब चीजें तभी तक सत्य प्रतीत होती हैं, जब तक भगवान के दर्शन नहीं होते। एक बार उनके दर्शन हो जाएँ तो ये सब स्वप्नवत्, अनित्य असार लगने लगते हैं। तब साधक उनसे केवल ज्ञान और भक्ति की ही प्रार्थना करता है। – ***श्रीरामकृष्ण***

विभावसु और सुप्रतीक

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के वरिष्ठ संन्यासी जपानन्दजी के कुछ संस्मरणों तथा चार पुस्तकों 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी', 'आत्माराम की आत्मकथा' तथा 'काठियावाड़ की कथाएँ' का हम धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं। प्रथम तीन का नागपुर मठ से ग्रन्थाकार प्रकाशन भी हो चुका है। १९३७ ई. में उन्होंने महाभारत की कुछ कथाओं का बँगला में पुनर्लेखन किया था। जिसकी पाण्डुलिपि हमें श्री ध्रुव राय से प्राप्त हुई हैं। उन्हीं रोचक तथा प्रेरणादायी कथाओं का हिन्दी अनुवाद क्रमशः प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

विभावसु और सुप्रतीक नाम के दो भाई थे। पहले उनके बीच बड़ी प्रीति थी और दोनों ही प्रसन्न और सन्तुष्ट थे।

बड़े भाई विभावसु स्वभाव के बड़े क्रोधी थे – जरा-जरा सी बात पर नाराज हो जाते और एक बार नाराज होने पर जल्दी शान्त नहीं होते। और क्रोध आने पर काफी अनर्थ कर डालते थे। इसे चुपचाप सहते जाना सुप्रतीक के लिये दिन-पर-दिन कठिन होता जा रहा था।

काम और क्रोध – ये दोनों ही मनुष्य के परम शत्रु हैं और आम तौर पर ये दोनों एक साथ ही रहते हैं। अर्थात् जो व्यक्ति अत्यन्त कामी होता है, वही अत्यधिक क्रोधी भी होता है। यह सामान्य नियम है। क्रोध के कारण मोह होता है और मोह से उचित-अनुचित तथा भले-बुरे के विषय में स्मृति का नाश हो जाता है और स्मृतिनाश होने पर बुद्धि अर्थात् विचार-शक्ति का नाश हो जाता है और इसके बाद सर्वनाश अवश्यम्भावी हो जाता है।

अतः विभावसु का क्रोध उसे उसी सर्वनाश में मार्ग पर ले जा रहा था। सुप्रतीक के साथ उसका प्रायः नित्य ही झगड़ा होता और नित्य ही क्लेश होता था। तब सुप्रतीक ने अपने बड़े भाई से अलग हो जाने में ही कल्याण समझा और पैतृक सम्पत्ति में से अपना हिस्सा माँगने लगा, परन्तु विभावसु अत्यन्त क्रुद्ध होकर सुप्रतीक से बोला, "देखो, लोग मोह के कारण ही पैतृक सम्पत्ति का बँटवारा करना चाहते हैं, परन्तु यह नहीं समझते कि अलग हो जाने के बाद उनमें आपसी प्रीति का क्रमशः अभाव होने लगता है और विरोध की वृद्धि होती है। स्वार्थ से अन्धे होकर वे लोग कई ऐसे कार्य करते हैं, जो अनुचित तथा पतन का कारण होता है। उनके इस विरोध को देखकर शत्रु लोग भी मित्रता का अभिनय करते हुए आकर उनमें और भी अधिक भेद उत्पन्न करते हैं और क्रमशः एक-दूसरे का दोष दिखा-दिखा कर उनके बीच वैर भाव को दृढ़ करते रहते हैं। इससे शान्ति और ऐश्वर्य की हानि होती है और चित्त में सर्वदा वैरभाव का पोषण करने के कारण आत्मतेज नष्ट हो जाता है। ऐसा होने के फलस्वरूप लोग प्रभावहीन होकर नगण्य अवस्था को प्राप्त होते हैं। इससे सर्वनाश हो जाता है। इसीलिये बुद्धिमान लोग पैतृक धन के बँटवारे से मना करते हैं। तुम्हें मैं बारम्बार समझा रहा हूँ कि पैतृक सम्पत्ति जैसा है, वैसा ही रहे; उसका बँटवारा ठीक नहीं। परन्तु तुम मेरी बात नहीं सुन रहे हो, अतः – जाओ, 'हाथी' होकर रहो।

अभिशाप पाकर सुप्रतीक बड़ा दुखी हुआ और कुपित होकर बोला, "तुमने मेरा न्यायसंगत माँग की उपेक्षा की और अन्यायपूर्वक मुझे शाप दे दिया। मैं भी तुम्हें प्रतिशाप देता हूँ – जाओ, 'कछुआ' होकर रहो।"

एक-दूसरे के अभिशाप के कारण दोनों ने गज और कच्छप के रूप में जन्म लेकर एक ही स्थान में आश्रय लिया। एक विशाल सरोवर था, उसी में छोटा भाई कछुआ होकर और बड़ा भाई उसी के किनारे जंगल में हाथी होकर रहने लगा। दोनों के बीच नित्य ही संघर्ष लगा रहता था।

काफी काल तक उन दोनों के बीच इसी प्रकार द्वन्द्व-युद्ध चलता रहा। उसके बाद एक दिन गरुड़ पक्षी ने दोनों को अपने पंजों में उठा लिया और ले जाकर भक्षण कर लिया। इसी प्रकार उनके झगड़ों का अन्त हुआ।

(आदिपर्व २९/१५-२३)

धर्म न दूसर सत्य समाना

सत्य को दृढ़ता के साथ पकड़े रहने पर भगवान की प्राप्ति होती है। सत्य पर निष्ठा न रहे, तो धीरे-धीरे सब कुछ नष्ट हो जाता है। उस अवस्था (ईश्वर-दर्शन) के बाद मैंने हाथों में फूल लेकर जगदम्बा से कहा था, "माँ, यह ले तेरा ज्ञान, यह ले तेरा अज्ञान; मुझे शुद्ध भक्ति दे। यह ले तेरी शुचिता, यह ले तेरी अशुचिता; मुझे शुद्ध भक्ति दे। यह ले तेरा भला, यह ले तेरा बुरा; मुझे शुद्ध भक्ति दे। यह ले तेरा पुण्य, यह ले तेरा पाप; मुझे शुद्ध भक्ति दे।" परन्तु जिस समय यह सब कहा था, उस समय यह नहीं कह सका कि "माँ, यह ले तेरा सत्य, यह ले तेरा असत्य।" माँ को सब कुछ दे सका, पर 'सत्य' न दे सका। – ***श्रीरामकृष्ण***
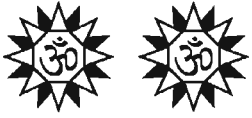
स्वामी प्रेमानन्द के संग में (२२)
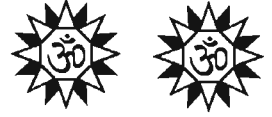
(बाबूराम महाराज के नाम से सुपरिचित स्वामी प्रेमानन्दजी श्रीरामकृष्ण देव के एक प्रमुख शिष्य थे। वे बेलूड़ मठ के सर्वप्रथम व्यवस्थापक थे। मठ के मन्दिर में वे पूजा भी किया करते थे। स्वामी ओंकारेश्वरानन्द ने बँगला भाषा में हुए उनके अनेक वार्तालापों को लिपिबद्ध कर लिया तथा ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित कराया था। वहीं से इनका हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

३. संन्यासी का पूर्णरूपेण कामनात्याग

बाबूराम महाराज थोड़ी देर तक 'जय प्रभु', 'जय प्रभु' 'हरिबोल, हरिबोल' कहते हुए तालियाँ बजाते रहे। भाव का उपशम होने पर वे फिर बोलने लगे – "ठाकुर कहा करते थे कि जैसे सूत का जरा-सा भी रेशा निकला रहे, तो वह सूई के भीतर नहीं घुसता, वैसे ही मन में जरा-सी भी कामना रहने से समाधि नहीं होती। पर 'भगवान का दर्शन करूँगा, उनके साथ बातचीत करूँगा' – यह कामना कामना नहीं है। जैसा कि ठाकुर कहते थे – हिंचे का शाक शाक में नहीं आता, मिश्री का गणना मिठाइयों में नहीं होती। सिद्ध रामप्रसाद ने गाया था – वासनाओं में आग लगा दो, तो वे जड़-मूल सहित जलकर राख हो जायेंगी। जो लोग संन्यासी हैं, उन्हें कामनाओं का पूर्ण रूप से त्याग करने की जरूरत है, परन्तु गृहस्थों को इतना करने की जरूरत नहीं। उन लोगों का मध्य-पथ है। वे लोग इधर और उधर – दोनों ओर का सँभालकर दूध की कटोरी पीते हैं। (साधुओं के प्रति) इसीलिए तुम लोगों से कहता हूँ कि मन के भीतर आश्विन की आँधी उठाओ। उस आँधी से कामना (का वृक्ष) जड़-मूल के साथ नष्ट हो जाता है। मन को कामनाशून्य कर डालो। देखोगे कि शान्ति तुम्हारे हाथ में है, इसी मुठ्ठी के भीतर है। कामना का त्याग ही मुक्ति है।

"कामनाएँ दो तरह की होती है – भली और बुरी। जो कामनाएँ मन के बन्धन खोलने में सहायक हैं, वे भली हैं; और जो बन्धन को और भी बढ़ाती हैं, वे बुरी हैं। साधुसंग, साधुसेवा, परोपकार, तीर्थभ्रमण आदि की कामनाएँ अच्छी हैं। भागवत में है – भक्तराज प्रह्लाद ने प्रार्थना की थी, 'मुझे स्त्री-पुत्र, घर-द्वार, धन-दौलत तथा सगे-सम्बन्धियों में आसक्ति न हो, यदि आसक्ति हो ही, तो भगवान के सच्चे भक्तों के प्रति हो।'[१] आसक्ति ही बन्धन है; पर यदि कोई भगवान या उनके प्रतीक सद्गुरु अथवा किसी महापुरुष के प्रति आसक्त हो, तो वही आसक्ति उसके मोक्ष का द्वार खोल देती है।[२] इसी को मन की दिशा मोड़ देना कहते हैं। बलपूर्वक मन का निग्रह नहीं करना चाहिए। जैसे पाँव में काँटा धँस जाने से, एक अन्य काँटे से उसे निकाल डालते हैं, उसी प्रकार अच्छी कामना के द्वारा बुरी कामना को भगाना चाहिए। दीर्घ काल तक भले कार्य करते-करते मन में शुभ संस्कार बैठ जाते हैं, तब फिर बुरे विचार या बुरे कार्य नहीं हो सकते।

"कामनाएँ और भी तीन प्रकार की होती हैं – स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण। रुपये-पैसे, धन-दौलत, स्त्री-पुत्रादि का भोग या भोगेच्छा स्थूल कामना है। बहुत साध्य-साधना तथा तपस्या के फलस्वरूप यदि स्थूल कामनाएँ दूर होती हैं, तो नाम, यश, प्रतिष्ठा की अभिलाषा आदि सूक्ष्म कामनाएँ मन के भीतर आकर प्रकट हो जाती हैं, तब विचार के द्वारा उन्हें एक-एक कर भगाना पड़ता है। शरीर में 'मैं' बोध ही समस्त कामनाओं का मूल कारण है। शरीर से 'मैं' बोध जाते ही सारे झंझट दूर हो जाते हैं। मनुष्य अमर हो जाता है, जीवन्मुक्त हो जाता है – 'मैं मरा कि मिटा जंजाल'। वेद-वेदान्त और गीता पढ़कर भी यदि कामना न जाय, तो बल्कि कामनाओं को नष्ट करने का अभ्यास करना कहीं अच्छा है। इस समय साधु-सन्तों के संग में लग रहा है कि मुझमें कोई कामना नहीं है, परन्तु बात ऐसी नहीं है। भीतर में कामनाएँ किलबिला रही है। ध्यान-जप तथा निष्काम कर्म करने से मन क्रमशः सूक्ष्म होता है। उसी सूक्ष्म मन के द्वारा जो विचार किया जाता है, उसी को कहते हैं – **उद्धरेत् आत्मना आत्मानम्**। उसी सूक्ष्म शुद्ध मन को लेकर विचार करने से पकड़ में आयेगा कि (भीतर) कौन-कौन-सी कामनाएँ छिपी हुई हैं। शोरगुल के भीतर उन्हें पकड़ना कठिन है। उन्हें निर्जन में पकड़ना पड़ता है। इसीलिए बीच बीच में जाकर निर्जन में निवास करना पड़ता है।

"गीता-उपनिषद् आदि शास्त्रों का अध्ययन लोकशिक्षा के लिए है। ठाकुर कहा करते थे – स्वयं को मारने के लिए एक नहरनी ही पर्याप्त है। अपनी मुक्ति के लिए एक बूँद गुरुमंत्र पाने के बाद, विश्वास सहित पूरी तौर से साधना में डूब जाने से ही हो जाता है। परन्तु दूसरों को मारने के लिए (शास्त्र-रूपी) ढाल-तलवार की आवश्यकता होती है।"

४. रामकृष्ण मिशन का उत्तरदायित्व

(साधुओं के प्रति) "देखो न, पाश्चात्य देश राज्य की लिप्सा से आपस में मारकाट* कर रहे हैं, इसीलिए उन्हें

१. मागारदारात्मज-वित्त-बन्धुषु सङ्गो यदि स्यात् भगवत् प्रियेषु नः।
यः प्राणवृत्त्या परितुष्ट आत्मवान् सिध्यत्यदूरान्न तथेन्द्रिय प्रियः॥
५/१८/१०

२. प्रसङ्गमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः।
स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम्॥ भागवत, ३/२५/१९

* उन दिनों प्रथम महायुद्ध चल रहा था।

मानसिक शान्ति भी नहीं मिलती। जानते हो, शान्ति के लिये सारा जगत् चातक के समान तुम लोगों की ओर देख रहा है? उन्हें शान्ति का मार्ग दिखाने का उत्तरदायित्व – यह गुरु उत्तरदायित्व, स्वामीजी तुम लोगों पर छोड़ गये हैं। वे यूरोप-अमेरिका घूमकर वहाँ जमीन तैयार कर आये हैं। तुम लोग वहाँ बीज बोकर फसल उगाओ। वे लोग सांसारिक भोग-सुख की चरम सीमा तक उठकर भी शान्ति नहीं पा रहे हैं। उससे भी क्या शान्ति मिल सकती है? शान्ति कैसे मिल सकती है, यह एकमात्र ठाकुर ने ही आकर दिखाया। तुम लोग उनकी सन्तान हो, तुम लोगों ने **बहुजनहिताय बहुजनसुखाय** जीवन उत्सर्ग किया है। अब ठाकुर-स्वामीजी के इस उदार असाम्प्रदायिक भाव की पताका को कन्धे पर लेकर आगे बढ़ो, आगे बढ़ो। मृत्यु को तुच्छ मानकर मृत्युंजय हो जाओ। **सन्निमित्ते वरं त्यागो विनाशे नियते सति** – मृत्यु जब अनिवार्य है, तो भले कार्य करते हुए मरना ही श्रेयस्कर है। जीवन क्षणभंगुर है, कार्य अनेक हैं – **अल्पश्च कालाः बहवश्च विघ्नाः**। खड़े रहने से काम नहीं चलेगा; बढ़े चलो, बच्चो, बढ़े चलो। आगे चन्दन का वन, उसके बाद ताँबे की खान, चाँदी की खान, सोने की खान आदि हैं। समय किसी के भी पकड़ में नहीं आता। वह नदी की धारा के समान अविराम गति से चला जा रहा है, किसी का मुख जोहते खड़ा नहीं रहता। समय का व्यर्थ अपव्यय नहीं करना चाहिए। हम लोग रुपये-आने-पैसे का हिसाब रखते हैं, परन्तु क्या मूल्यवान समय का भी हिसाब रखते हैं?

"मैं बुलन्द आवाज में कहता हूँ – यदि कोई अपने मन से काम-कांचन को पूरी तौर से भगा सकता है, तो भुक्ति-मुक्ति-शान्ति उसके करतलगत है, दुनिया उसके चरणों में अवनत है। कामिनी-कांचन विशालाक्षी का भँवर है। इस भँवर में पड़कर दुनिया गोते खा रही है।

"कितने लोग सचमुच ही भगवान को चाहते हैं, जरा अपने अपने सीने पर हाथ रखकर बोलो कि कौन उन्हें चाहता है? यदि कोई उन्हें पुकारता भी है, तो वह रोग से त्रस्त होकर या धनाभाव के कारण अथवा किसी अन्य वस्तु के लिए उन्हें पुकारता है। भगवान मेरे अपने आदमी हैं, उन्हें प्रेम किये बिना, देखे बिना रह नहीं पाता – इस प्रकार प्रेम से कौन उन्हें चाहता है? कितने लोग उनके लिए व्याकुल हैं? जो चाहता है, वह पाता है। हम उनकी ओर एक कदम चलें, तो वे हमारी ओर सात कदम बढ़ आते हैं। उनकी ऐसी ही दया है!" इतना कहकर वे गाने लगे – (भावार्थ) –

रे मन, माँ काली को सच्चे दिल से
पुकार तो सही, देखें, वे तुझे दर्शन दिये बिना
भला कैसे रह सकती हैं !
यदि तुझे माँ काली के दर्शन की तीव्र इच्छा हो,
तो जवा पुष्प और बिल्वपत्र को
भक्ति-चन्दन से लिप्त करके
उन्हें पुष्पांजलि के रूप में
माँ के चरणों में अर्पित कर ।।

"काम-कांचन, ईर्ष्या-द्वेष, स्वार्थपरता – इन्हीं सब को लेकर जगत के लोग मारकाट कर रहे हैं, इसीलिए उन्हें शान्ति नहीं मिलती। उससे भी क्या शान्ति मिलती है? इस युग में एकमात्र ठाकुर ने ही आकर जगत् को दिखाया कि शान्ति कैसे मिल सकती है। उन्होंने दिखाया कि भाव, भक्ति, प्रेम, समाधि पर 'करामलकवत्' अधिकार कर पाने में ही शान्ति है। त्याग, वैराग्य, संयम और निष्ठा को नींव बनाकर यदि अपना दैनन्दिन जीवन गठित कर सको, तभी तुम लोग ठाकुर की यथार्थ सन्तान के रूप में अपना परिचय देने के योग्य बनोगे और तुम लोगों का जीवन सुमेरु के पर्वत समान अचल-अटल हो होगा। तब दुख-कष्ट तुम्हारे मन को विचलित नहीं कर सकेंगे और विषय-मधु तुच्छ प्रतीत होगा। **यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः**। कामिनी-कांचन फीका लगेगा। गृहस्थ हो या संन्यासी, जो कोई भी वह आदर्श जीवन दिखा सकेगा, वही बड़ा होकर जगत् में उच्च आसन प्राप्त करेगा। जो जितना कर सकेगा, वह उसी अनुपात में शान्ति पायेगा, अमृत का आस्वादन कर सकेगा। जिस किसी को एक बार भी उसका स्वाद मिल चुका है, उसे क्या गुड़ का शरबत – भोग-लालसा अच्छी लगती है? और यह भी जान रखना, जैसा व्यक्ति के लिये है, वैसा ही समग्र राष्ट्र के लिए भी है। जो राष्ट्र इस आदर्श की ओर जितना ही अग्रसर होगा, उसे उतनी ही शान्ति मिलेगा – वह अमर हो जायगा। और वही सच्चा सुसभ्य राष्ट्र होगा।

"भाव, महाभाव, प्रेम, समाधि – ये सब भारत को छोड़ अन्यत्र हैं ही कहाँ? हिन्दू-राष्ट्र ने इन सब भावों को जीवन में रूपायित करने में जितनी शक्ति लगायी है, जगत् के अन्य किसी राष्ट्र ने क्या उतना किया है? इसीलिये यह जाति इतनी उत्पीड़ित होने के बावजूद अब भी जीवित है। उसकी तुलना में पाश्चात्य जातियाँ तो अभी कल के बच्चों के समान हैं।"

❖ (क्रमशः) ❖

माँ की बातें

निवारणी दासी

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

माँ की बातें कहने की क्षमता मुझमें है क्या? उस समय मैं क्या कुछ समझती थी? हम लोग पहले उन्हें 'बामुन दीदी' कहते थे। मैं जब उनके पास आयी, उस समय मेरी उम्र अधिक नहीं थी, पचीस-छब्बीस वर्ष रही होगी। मेरे पति छप्पर लगाने का काम करते थे। एक घर में छप्पर छाने गये, तो सहसा पैर फिसल कर गिर जाने से कमर टूट गयी, बहुत दिनों तक बिस्तर पकड़े रहे। गृहस्थी चलानी कठिन हो गयी। एक दिन वे बोले, "जरा बामुन दीदी से जाकर कहो न, यदि कुछ दे या कुछ सहायता करे।" उन दिनों आज जैसी अवस्था नहीं थी, जयरामबाटी में माँ के घर पर दो-चार साधु-ब्रह्मचारी मात्र रहते थे। मैं माँ के पास जाकर बहुत रोयी। वे सांत्वना देकर बोली, "बेटी, विपद तो संसारी लोगों के लिए ही है, हतोत्साहित होने से क्या होगा? तुम्हारे पति इस समय अस्वस्थ हैं – तुम इधर-उधर कुछ कामकाज करके उसे स्वस्थ कर डालो। उसके स्वस्थ होने पर फिर सब ठीक हो जायेगा।"

मैंने उनसे कहा, "बामुन दीदी, तुम आशीर्वाद दे दो, ताकि वह जल्दी स्वस्थ हो जाय।"

माँ ने कहा, "अरे, मेरे आशीर्वाद से क्या होगा? ठाकुर ही सब हैं। ठाकुर से ठीक से कहो, उसी से सब होगा।"

माँ ने मुझे गुड़-मुरमुरे देकर कहा, "बहू, उसे ले जाकर उसे देना, तू भी खाना।" और एक वस्त्र देकर बोलीं, "यह कपड़ा भी ले। फटा कपड़ा पहन कर नहीं घूमना चाहिये।"

उसके बाद से मैं बीच-बीच में माँ के पास आती। उस समय माँ – अपनी माता तथा भाइयों के साथ ही रहतीं थीं। एक बार उनके घर का काम करनेवाली लड़की चली गयी, तब माँ बोलीं, "निबू, शशी चली गयी हैं। तू काम करेगी?" मैं माँ के कहने पर उन्हीं के पास रह गयी।

माँ के साथ कितना काम किया है, पर मेरा ऐसा दुर्भाग्य कि मैं उन्हें जरा भी समझ नहीं सकी। मैंने माँ को बामुन दीदी के रूप में ही जाना। उन्होंने जरा भी पहचानने नहीं दिया। वे हमीं लोगों के समान गोशाले में गोबर उठाती, ढेकी में धान कूटती, घर लीपतीं और कभी बैलों को चारा दे आतीं। फिर स्वयं ही रसोई बनाकर भक्तों को बैठाकर खिलाती। शुरू-शुरू में मैं उन्हें 'बामुन दीदी' कहती। बाद में जब मैंने उनके भक्त-शिष्यों को उन्हें 'माँ' कहकर पुकारते देखा, तो मैंने भी उन्होंने 'माँ' कहना शुरू कर दिया।

बाद में माँ की गृहस्थी बड़ी होने लगी। तब माँ के लिये अपने भाइयों के साथ रहना सम्भव नहीं रहा। माँ का 'नया घर' बना। तब से मैं भी माँ के पास ही रह गयी। उनके साथ कितना काम किया है! उनके साथ धान कूटा है, इमलियाँ छीलकर बीज निकाला है। माँ वृद्धावस्था में भी बहुत-सा काम करती थीं। कभी खाली नहीं बैठती थी। वे किसी को कोई काम करने के लिये दो बार नहीं कहती थीं। एक बार कहने पर कोई काम नहीं करता, तो वे स्वयं उठकर उसे कर लेतीं। तब मैं एक बार भी नहीं समझ सकी कि हमारी माँ सचमुच ही देवी हैं। पिछले दिनों के बारे में सोचकर अब पश्चात्ताप होता है।

एक बार एक घटना हुई। माँ के भाइयों के गाय-बैल थे, खेत-बगीचे थे। पर इससे क्या? माँ को ही सब देखना पड़ता था। माँ के भाई लोग इतने काम के नहीं थे; आपस में झगड़ते रहते थे। पर वे लोग माँ से बहुत डरते थे। एक बार एक मिट्टी का ढोका गिरकर बैलों का नाद टूट गया। चरवाहे ने आकर बताया, नाद टूट गया है, पानी नहीं ठहरेगा, जल्दी दूसरा खरीदकर मँगवाओ। इस नाद से पानी नहीं ढाला जा सकता।" उस समय घर में कोई पुरुष नहीं था। माँ ने मुझसे कहा, "निबू, नाद को उतार ला, मैं ही जोड़े देती हूँ।"

मैंने कहा, "यह सब क्या स्त्रियों का काम है?"

माँ बोलीं, "तुझसे जो कह रही हूँ, वही कर – नाद को उतार कर तालाब से थोड़ी गीली मिट्टी ले आ।" बिना कुछ बोले मैं तालाब से गीली मिट्टी ले आयी।

नाद पूरा फट चुका है। किसी भी तरह नहीं जोड़ा जा सकता। मैंने कहा, "इसे फेंकना पड़ेगा। यह क्या गीली मिट्टी से टिकेगा? माँ ने मेरी बातों पर ध्यान नहीं दिया; बोलीं, "थोड़ी और मिट्टी ले आ तो!" मैं पुन: घाट से मिट्टी

(शेष अगले पृष्ठ पर नीचे)

इक्कीस दोहे

भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

अरे फूल ! तुम फूलकर, रहे डाल में झूल ।
गर्व न करना भूल कर, अन्त बनोगे धूल ।।

चाहे जितना ही बढ़े, नव भौतिक विज्ञान ।
देगा सच्चा सुख नहीं, बिना आत्म-सन्धान ।।

मानवता ही है सही मानव की पहचान ।
मानवता - बिन व्यर्थ है, मानव का उत्थान ।।

दुखता दुर्जन-कर्म से, मानवता का मर्म ।
सबको ही खलता सदा, खल करके खल कर्म ।।

निज सुख-वैभव के लिये, करते सभी प्रयत्न ।
परहित जीवन जो जिये, वह ही मानव रत्न ।।

रहे धरा पर ही धरा, वैभव-वित्त अपार ।
क्या जायेगा साथ तव, रे मन ! तनिक विचार ।।

क्या करना था क्या किया, अब तक, करो विचार ।
नश्वर यह नर देह है, नश्वर है संसार ।।

तन को मरना है, वही मरता है हर बार ।
आत्मतत्त्व तो अमर है, करके देख विचार ।।

प्रतिपल घटती आयु है, ज्यों मुट्ठी की रेत ।
अरे मूढ़ मानव ! अभी, चेत सके तो चेत ।।

भ्रम देता है लोक में, सबको कष्ट महान ।
मरते-मरते भीत जन, सर्प रज्जु को मान ।।

तपा नहीं जो धूप में, मिला न जिसे विषाद ।
वह जानेगा लोक में, क्या छाया का स्वाद ।।

तभी जागना जानिये, तभी जानिये भोर ।
सच्चे मन से जब चले, परमेश्वर की ओर ।।

मन को सुमन बनाइये, जिसमें स्नेह-सुवास।
तो जीवन-वन में बसे, सदा सुखद मधुमास ।।

साधु वही सज्जन वही, मानव वही महान ।
करता 'सुमन' समान जो, सबको स्नेह प्रदान ।।

करो काम की कामना, पहुँचोगे पाताल ।
रमो राम में यदि सदा, होगा जन्म निहाल ।।

पर-दारा, पर-द्रव्य में, रमता जिनका चित्त ।
खो जाता है सेंत में, उनका जीवन-वित्त ।।

मन में प्रभु से प्रेम हो, मुख में मीठे बोल ।
परहित में हो भक्ति वह, जीवन है अनमोल ।।

मानवतामय कर्म ही, मानव की पहचान ।
तन से तो सुर असुर भी, दिखते एक समान ।।

जीओ, जीने दो सदा, जिसका कर्म-विधान ।
लोक और परलोक में, मानव वही महान ।।

सबके हित में ही निहित, अपना भी हित मान ।
जीवन जीता जो सदा, मानव वही महान ।।

सत्य-स्नेह-सद्भावना-सेवा, सात्त्विक कर्म ।।
न्याय-नित्य निर्मल हृदय, मानवता का मर्म ।।

(पिछले पृष्ठ का शेषांश)

लाने गयी। लौट कर देखा तो पूरा नाद जुड़ चुका था।

मिट्टी लाकर मैं बोली, "यह क्या जी ! आपने तो इस ठीक ही कर दिया ! इस बीच यह जुड़ गया? कैसे जोड़ा?"

माँ ने हँसते हुए कहा, "तू तो कह रही थी कि नहीं होगा। अब देख ले !" देखकर मैं तो अवाक् रह गयी।

माँ से मिलने के लिये इतने शिष्य-भक्त आते कि उनकी गिनती नहीं हो सकती। किसी-किसी दिन वे कहतीं, "नीबू, जहा पैरों को धो दे तो, कैसी जलन हो रही है ! कितना सब पाप करते हैं और यहाँ लाकर ढाल देते हैं। मर गयी रे, मैं तो मर गयी !" उस समय माँ के पैरों में गठिया भी बढ़ा हुआ था। मदार के पत्ते वात की पीड़ा में लाभकारी होते हैं, अत: मैं उन्हें गाँव के बाहर से लाकर चूल्हे के बाहर लगाकर उन्हें गरम करती। इसके बाद उन पत्तों को माँ के घुटने पर लगा देती। इससे उनकी वात की पीड़ा थोड़ी घट जाती थी।

आज सोचती हूँ कि भले ही मैं उन्हें न पहचान सकी, पर उनकी सेवा तो की है। उन्होंने ही सेवा करा ली है। उनके श्रीचरणों का स्मरण करके बैठी हूँ कि कब वे बुला लेंगी। इसीलिये इस मृत्यु की आयु में भी हाँफते-हाँफते एक बार उनका दर्शन करने और उनके भोग के बर्तन माँजने आती हूँ। पहले के महाराज लोगों ने तो मुझे बहुत सालों से देखा है। अब के महाराज लोग भी मुझसे बड़ा स्नेह रखते हैं, आने से मना करते हैं। कहते हैं, "बूढ़ी माँ, कहीं फिसलकर गिर न पड़ो ! अब तुम्हें और कुछ नहीं करना होगा।" परन्तु मन तो नहीं मानता। सोचती हूँ, नेत्रों से देखकर माँ को नहीं पहचान सकी, तो प्राण रहते उनकी थोड़ी-सी सेवा कर जीवन सार्थक कर लूँ। मैंने उनका स्पर्श किया है। कई बार चिढ़कर कह दिया है, "कर तो दिया; अब और नहीं होगा !" आज उन बातों को सोचकर कितना कष्ट होता है, उसे कैसे समझाऊँ !

❖ (क्रमश:) ❖

स्वामी विवेकानन्द की बोधगया-यात्रा (४)

स्वामी विदेहात्मानन्द

बोधगया-तीर्थ का विकास और जीर्णोद्धार

हम बता आये हैं कि स्वामीजी की तरुणाई के दिनों में पूरी दुनिया का ध्यान एक बार फिर भगवान बुद्ध की ओर आकृष्ट हो रहा था। बुद्धकालीन ग्रन्थों की खोज, अनुवाद तथा प्रकाशन का कार्य हो रहा था और साथ ही बुद्धदेव की जीवन से सम्बन्धित पुरातात्त्विक स्थलों का उत्खनन तथा संरक्षण का कार्य भी रहा था। तत्कालीन विश्व इसमें गहरी रुचि ले रहा था। युवक नरेन्द्रनाथ (बाद में विवेकानन्द) इन घटनाओं का बड़ी तन्मयता के साथ अध्ययन कर रहे थे। १८८३ या ८४ के मई-जून में एक दिन गंगाधर (बाद में स्वामी अखण्डानन्द) जब पहली बार उनसे मिलने गये, तो उन्होंने ऐसा ही देखा था – वे "बाहर के एक कमरे में बिस्तर के ऊपर बैठकर डॉ. राजेन्द्रलाल मित्र द्वारा लिखित 'बुद्धगया' नामक ग्रन्थ पढ़ रहे हैं; वह ग्रन्थ वेबस्टर द्वारा रचित शब्दकोश के समान विशालकाय था।"[५३]

१८७७ से १८८० डॉ. राजेन्द्रलाल मित्र के निर्देशन में तीन वर्षों तक बोधगया में पुरातात्त्विक उत्खनन का कार्य चला था। इसके बाद उसके जीर्णोद्धार का कार्य आरम्भ हुआ। डॉ. मित्र ने अपनी रीपोर्ट सरकार को सौंप दी और उसे एक विशाल ग्रन्थ के रूप में भी प्रकाशित किया गया। स्वामीजी अपनी किशोरावस्था से ही भगवान बुद्ध की ओर एक अदम्य आकर्षण का बोध किया करते थे। इसी कारण वे इस ऐतिहासिक उत्खनन तथा उसमें प्राप्त सामग्रियों का बड़ी गहराई से अध्ययन किया करते थे।

आगे हमने देखा कि उरुवेला (बोधगया) में कैसे राजकुमार सिद्धार्थ गौतम को ज्ञान की प्राप्ति हुई और वे भगवान बुद्ध में रूपान्तरित हो गये। इस ऐतिहासिक घटना के उपलक्ष्य में उनके जीवन-काल में ही उस स्थल तथा वृक्ष के संरक्षण की व्यवस्था होने लगी थी। लगभग दो शताब्दियों बाद सम्राट् अशोक ने बोधिवृक्ष के निकट पहला मन्दिर बनवाया। उन्होंने इस परिसर के चारों ओर सुन्दर कारीगरी से युक्त एक रेलिंग बनवाया था, जिसका कुछ भाग अब भी संरक्षित है। शिलालेखों से पता चलता है कि चहारदीवारी का कुछ भाग गुप्तकाल में और कुछ शुंगकाल (१८४-१७२ ई.पू.) में बना था।

चीनी यात्री फाहियान लगभग ४०० ई. में भारत आये थे। उन्होंने बोधगया के विहारों का जो वर्णन किया है, उसमें इस मन्दिर का वर्णन नहीं है। लगता है कि तब तक सम्राट् अशोक द्वारा बनवाया हुआ स्मारक नष्ट हो चुका था। इससे यह भी अनुमान किया जाता है कि वर्तमान मन्दिर गुप्तकाल में ५वीं या ६ठीं शताब्दी में बना होगा। क्योंकि ६३७ ई. में वहाँ आनेवाले चीनी यात्री युआन च्वांग (ह्वेनसांग) ने अपने विवरण में इस मन्दिर के विषय में काफी विश्वस्त जानकारी दी है। उन्होंने इसे महाबोधि-विहार कहा है। ह्वेनसांग ने लिखा है कि इस महाबोधि-मन्दिर का निर्माण एक शिवभक्त ब्राह्मण ने कराया। पूरी कथा इस प्रकार है – दो ब्राह्मण भाई अपनी किसी इच्छा की पूर्ति हेतु हिमालय में जाकर महेश्वर शिव के दर्शनार्थ तप कर रहे थे। शिव ने उन्हें निर्देश दिया कि वे जाकर बोधिवृक्ष के पास एक विशाल मन्दिर बनवाएँ और एक बड़ा तालाब खुदवाएँ; साथ ही वे वहाँ हर प्रकार के दान आदि भी करके पुण्य अर्जित करें। तदनुसार ज्येष्ठ भ्राता ने इस विशाल मन्दिर का निर्माण कराया।[५४]

बंगाल के पालवंशीय राजाओं के शासनकाल तक वहाँ की व्यवस्था अच्छी थी। ११वीं शताब्दी में ब्रह्मदेश (म्यामार) के राजाओं ने अपना दूत भेजकर इस मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया था। एक शिलालेख के ज्ञात होता है कि १२वीं शताब्दी के अन्त में कन्नौज के राजा जयचन्द ने भी इसका जीर्णोद्धार कराया था।[५३] ब्रह्मदेश (वर्तमान म्यामार) तथा श्रीलंका के राजा तथा वहाँ की जनता निरन्तर वहाँ की तीर्थयात्रा का प्रयास करते रहे। परन्तु क्रमशः पूरे उत्तर भारत मुसलमानों की सत्ता स्थापित हो जाने के बाद १३वीं शताब्दी से यह मन्दिर परित्यक्त जैसा हो गया और इसके चारों ओर जंगल और झाड़ियाँ उग आयीं।

बोधगया के महन्त

सम्राट् अकबर के शासनकाल के दौरान १५९० ई. में घमण्ड गिरि नाम के एक संन्यासी बोधगया पहुँचे। उन दिनों वहाँ का महाबोधि-मन्दिर तथा बौद्ध विहार जंगलों से घिरे हुए

५३. गंगाधर १८८३ के मध्य भाग से १८८४ ई. के मध्य भाग में किसी दिन पहली बार श्रीरामकृष्ण से मिलने दक्षिणेश्वर आये थे। (स्वामी अखण्डानन्द, स्वामी अन्नदानन्द, सं. २००२, पृ. ९; श्रीरामकृष्ण-भक्तमालिका, स्वामी गम्भीरानन्द, सं. १९८९, भाग २, पृ. २५)

५४. भारतीय संस्कृति कोश (मराठी), पूना, खण्ड ६, पृ. २४२-४३ (द्रष्टव्य – "**Hiuen Tsang** [Xuan Zang], who visited Bodh Gaya in A.D. 637, says that two Brahmin brothers prayed to Lord Maheshwara in the Himalayas to grant their wishes, upon which Maheshwara instructed them to carry out the meritorious task of erecting a large temple and excavate a large tank and devote all kinds of religious offerings near the most sanctified Bodhi tree for attaining 'the fruit of a Buddha'. The elder Brahmin devotee accordingly built a large temple." (**http://voi.org/books/acat/ch3.htm**)

और खण्डहरों के रूप में चारों ओर बिखरे हुए थे। उन्होंने उसी परिवेश के बीच प्रधान बोधि-मन्दिर के थोड़ी दूर उत्तर में अपनी कुटिया बनायी। अब इसे गद्दी का पुराना मठ कहा जाता है। यह स्थान 'घमण्डी गिरि बाग' के नाम से परिचित है। १७२७ ई. में इनके उत्तराधिकारी (महन्त लालगिरि) ने मुगल बादशाह महमूद शाह से मुस्तीपुर और तरहिद गाँवों की जमींदारी की सनद प्राप्त की। जंगलों-झाड़ियों से घिरा हुआ महाबोधि मन्दिर तरहिद गाँव में होने के कारण वह भी अपने आप ही मठ के अधिकार तथा संरक्षण में आ गया।[५५]

१८८२ में प्रकाशित हैंडबुक ऑफ बेंगाल प्रेसीडेंसी में लिखा है, "प्रवेशद्वार की बायीं ओर वह स्थान है, जहाँ वर्तमान महन्त की परम्परा के संस्थापक ने लगभग २५० वर्ष पूर्व, चारों ओर आग से घिरे और ऊपर सूर्य के ताप के बीच बैठकर तपस्या (पंचतपा) का अनुष्ठान किया था। अग्नि की राख अब भी विद्यमान है। वर्तमान महन्त ने अनुरोध किया कि उससे छेड़छाड़ न की जाय, अत: (मन्दिर के जीर्णोद्धार के प्रबन्धक) श्री बीगलर ने उसे ऊपर से एक चार फीट चौड़े तथा साढ़े चार फीट लम्बे छत से ढक दिया। उसी से लगी हुई ईंटों से निर्मित तीन समाधियाँ भी है।"[५६]

१५९० ई. में बोधगया-मठ के संस्थापक-महन्त घमण्डी गिरि के बाद से अब तक के वहाँ के १६ महन्तों की परम्परा में जिनके नाम तथा कार्यकाल मिल सके हैं, निम्नलिखित हैं – १७२७ ई. में लालगिरि जी और १८२३ ई. में शिवगिरि जी महन्त थे। १० वें महन्त गोसाईं भाईपति गिरि का देहान्त १८६७ में हुआ। उनके उत्तराधिकारी हेम नारायण गिरि ११वें महन्त हुए। वे बड़े ही विद्वान्, उदार तथा विचारशील थे। उन्होंने बड़ी कुशलतापूर्वक मठ का संचालन किया। २७ दिसम्बर १८९१ में उनका वाराणसी में देहान्त हुआ। गोसाईं कृष्णदयाल गिरि १२वें महन्त हुए। (१९१७ के एक दलील में इनका नाम मिलता है।) १९५३ में हरिहरनाथ गिरि महन्त की गद्दी पर विराजमान थे। २००८ को गठित 'बोधगया मन्दिर प्रबन्ध समिति' के सदस्यों में १६ वें महन्त सुदर्शन गिरि जी एक हैं।

जीर्णोद्धार के प्रारम्भिक प्रयास

अट्ठारहवीं शताब्दी के अन्त तक भारत में अंग्रेजी राज्य भलीभाँति स्थापित हो गया था। भारत के गवर्नर-जनरल वारेन हेस्टिंग्ज की प्रेरणा तथा सहायता से विद्वान् न्यायाधीश सर विलियम जोन्स ने १५ जनवरी, १७८४ ई. को कलकत्ते में 'एशियाटिक सोसायटी' की स्थापना की, जिसका उद्देश्य था एशिया के इतिहास, पुरातत्त्व, साहित्य, कला, विज्ञान, धर्म, समाज आदि के विषय में उच्च स्तर के शोध को प्रोत्साहित करना। १७८५ में बोधगया पहली बार बोधगया ने विश्व के बुद्धिजीवियों का ध्यान आकृष्ट किया, क्योंकि सर चार्ल्स विल्किन्स ने इसी वर्ष फ्रांसिस विलमांट द्वारा बोधगया में प्राप्त एक शिलालेख का अंग्रेजी अनुवाद करके एशियाटिक रिसर्च पत्रिका में प्रकाशित कराया।

बोधगया का वर्तमान जीर्णोद्धार का कार्य बर्मा (म्यामार) के राजाओं के निरन्तर प्रयत्न के कारण ही आरम्भ हो सका। उसका संक्षिप्त इतिहास इस प्रकार है। १८२० ई. के कुछ वर्ष पूर्व बर्मा (म्यान्मार) के राजा ने, अपने बौद्धधर्म के प्रति प्रेम के कारण, बोधिवृक्ष और उसके पास बने मन्दिर का पता लगाने हेतु उसके एक नक्से के साथ अपना एक दूत भेजा। परन्तु वह गया तक पहुँचकर, आगे का मार्ग जंगलों से आच्छन्न होने के कारण वहीं से लौट गया। १८२३ ई. में बर्मा के राजा (वाजिदो) ने एक बार फिर एक बौद्ध भक्त को बोधगया की खोज के लिये भेजा। उसे निर्देश दिया गया था कि वह बर्मा के राजा की ओर से वहाँ पूजा-अर्चना की व्यवस्था करके ही लौटे। उसने बोधगया पहुँचकर बोधिवृक्ष तथा भगवान बुद्ध की बड़े धूमधाम के साथ पूजा-अर्चना की और चढ़ावे अर्पित किये। कुछ दिनों तक नियमित रूप से पूजा आदि करने के बाद उसने स्थानीय शैव महन्त के एक शिष्य को बौद्ध पूजा-पद्धति सिखायी और पूजा का प्रबन्ध तथा उसके लिये आवश्यक धन महन्तजी (शिवगिरि) को सौंपकर बर्मा लौट गया। १८३२ ई. में बर्मा के राजा स्वयं बोधगया आये। उन्होंने बड़े समारोह के साथ वहाँ पूजा-अर्चना सम्पन्न की और स्थानीय नागरिकों मन्दिर के जीर्णोद्धार हेतु आश्वासन दिया। उन्होंने भारत सरकार से लिखा-पढ़ी भी की और थोड़े दिनों बाद स्वदेश लौट गये।

१८४६ ई. में जनरल कनिंघम के सहकर्मी मेजर मारहम किट्टी बोधगया आये और वहाँ का विस्तृत रीपोर्ट भारत सरकार के पास भेजी। १८६१ ई. में जनरल कनिंघम स्वयं ही बोधगया आये। फिर उसी वर्ष वे दुबारा 'भारतीय पुरातत्त्व-सर्वेक्षण विभाग' के निदेशक के रूप में वहाँ आये और बड़े ही जोरदार शब्दों में वहाँ के जीर्णोद्धार पर ध्यान देने की सिफारिश की। इसका सार्थक फल निकला और सरकार ने अपनी ओर से डॉ. राजेन्द्रलाल मित्र को बोधगया का निरीक्षण करने हेतु भेजा। डॉ. मित्र ने वहाँ करीब एक वर्ष निवास किया और बड़े परिश्रम के साथ वहाँ का विस्तृत विवरण बनाकर सरकार के सामने प्रस्तुत किया।[५७]

५५. भारतीय संस्कृति कोश (मराठी), पूना, खण्ड ६, पृ. २४५; बौद्धधर्म और बिहार, हवलदार प्रसाद त्रिपाठी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, सं. १९६०, पृ. २५१ (आगे 'बौद्धधर्म और बिहार' नाम से उद्धृत होगा)। **५६.** Handbook of the Bengal Presidency, John Murray, London, Ed. 1882, Pp. 192

५७. लार्ड कैनिंग ने १८६० ई. में 'भारतीय पुरातत्त्व-सर्वेक्षण विभाग' की स्थापना की। १८६२ में जनरल कनिंघम को उसका निदेशक

बर्मा के राजा पहले से ही इस मन्दिर का जीर्णोद्धार कराने को उत्सुक थे। भारत सरकार ने उन्हें इस शर्त के साथ अनुमति दे दी कि वे मन्दिर-परिसर में अपनी ओर से कोई नया काम नहीं करेंगे। १८७४ ई. में बर्मा के राजा मिंडुमिन की ओर से संन्यासी महन्त के मठ के दक्षिण की ओर निरंजना नदी के किनारे एक धर्मशाला बनवायी गयी, जो बाद में मठ अतिथिशाला बनी। करीब उसी समय राजा की ओर से जीर्णोद्धार का कार्य आरम्भ हो गया था।

१८७७ में सरकार ने वहाँ चल रहे कार्य का निरीक्षण करने डॉ. राजेन्द्रलाल मित्र को बोधगया भेजा। उनका निरीक्षण-रीपोर्ट पढ़ने के बाद सरकार ने बर्मा के राजा की ओर से किया जा रहा कार्य बन्द करा दिया और उनके कारीगरों को लौटा दिया। उसी वर्ष भारत सरकार ने वहाँ के कार्य का सारी जिम्मेदारी स्वयं पर ले ली और जनरल कनिंघम तथा डॉ. राजेन्द्रलाल मित्र के निर्देशन में वहाँ विधिवत खुदाई का कार्य शुरू हो गया। यह उत्खनन का कार्य तीन वर्ष चला और १८८० में समाप्त हुआ।[५८] इस पर करीब दो लाख रुपये खर्च हुए थे। उसके बाद जीर्णोद्धार आरम्भ हुआ।

श्री जे. डी. बीगलर को एलेक्जेंडर कनिंघम के निर्देशन में मन्दिर के इस जीर्णोद्धार का कार्य सौंप दिया गया। मन्दिर का शिखर करीब १५ फीट नीचे तक ढह चुका था और कई छज्जे बुरी तरह छतिग्रस्त हो गये थे। सामने का मण्डप तो पूरी तौर से ढहकर नष्ट हो चुका था। बीगलर के लिये यह जान पाना असम्भव सा था कि मन्दिर अपने मूल रूप में कैसा दिखता था। कनिंघम की सलाह थी कि इसके ऊपर सीमेंट से प्लास्टर कर दिया जाय, ताकि इसमें आगे क्षरण न हो सके, परन्तु इसका क्रियान्वयन शुरू करते समय भाग्यवश उसी के मलबे से मन्दिर की एक छोटी-सी प्राचीन प्रतिकृति मिल गयी। बीगलर ने चारों कोनों के शिखरों और सामने के मण्डप के जीर्णोद्धार में मन्दिर के नमूने का सदुपयोग किया। आज मन्दिर का जो स्वरूप देखने को मिलता है, वह इसी जीर्णोद्धार का फल है। बाद में जब इस मन्दिर के अन्य कई प्राचीन नमूने मिले, तो पता चला कि मन्दिर का जीर्णोद्धार बिल्कुल सटीक हुआ है।

इसके अतिरिक्त बीगलर ने अपनी व्यक्तिगत जिज्ञासा के चलते मन्दिर के आसपास कुछ उत्खनन भी कराया। इसके फलस्वरूप एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण खोज हुई। मन्दिर के गर्भगृह के फर्श का ग्रैनाइट पत्थर समतल न होने के कारण उसे निकालकर दुबारा बैठाने का निर्णय लिया गया। इसी उद्देश्य से पाल राजाओं के समय वज्रासन के ऊपर बनी हुई वेदी के पत्थरों को भी निकाला गया। उसके भीतर एक पुरानी पूजा की वेदी प्राप्त हुई। इस दूसरी वेदी के ऊपर जो प्लास्टर लगा था, उसे ध्यान से देखने पर पता चला कि उसमें मोती-मूंगे तथा छोटे-छोटे कीमती पत्थर भी जड़े हुए हैं। इसके आधार से मिट्टी का एक गोला मिला, जिसमें सोने तथा चाँदी की बनी वस्तुओं के साथ ही मोती, मूंगे, पन्ने, नीलम, लाल, स्फटिक आदि कीमती रत्न रखे हुए थे। इसके साथ ही वहाँ स्वर्णपत्र के ऊपर राजा हुविष्क (२री शताब्दी) के समय के एक सिक्के का छाप मिला, जिससे इस वेदी के उसी काल का होने का संकेत मिलता है। इस सम्पूर्ण खजाने को बाद में ब्रिटिश म्यूजियम में जमाकर दिया गया। इस दूसरी वेदी को हटाने पर नीचे एक तीसरी वेदी भी मिली, जो काफी क्षतिग्रस्त थी और चमकीले बलुए पत्थर से बनी थी, जो मौर्यकालीन निर्माण का सूचक है। इस वेदी के सामने चार भित्ति-स्तम्भ मिले, जो ठीक वैसे ही थे जैसा कि भरहुत में प्राप्त वज्रासन के नमूने में दीख पड़ता है। कनिंघम का विश्वास था कि यही सम्राट् अशोक द्वारा बनवाया गये मूल मन्दिर का अवशेष है। एक के ऊपर एक बनी इन तीन वेदियों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि महाबोधि-मन्दिर का निर्माण कम-से-कम तीन बार हुआ था।[५९]

इस बीच १८७८ में बर्मा के राजा मिंडुमिन की मृत्यु हो गयी और उसके उत्तराधिकारी के रूप में थीबो वहाँ का राजा हुआ। उसने भी बोधगया में अपने पिता द्वारा कराये जा रहे कार्यों (पूजा-अर्चना) को जारी रखा, परन्तु थोड़े दिनों बाद ही उसकी अंग्रेजों से अनबन हो गया और सरकार ने उसे कैद करके महाराष्ट्र के रत्नागिरि के कारागार में रख दिया।

१८८६ ई. के १ जनवरी से बर्मा पर अंग्रेजों का पूरा अधिकार हो गया। अंग्रेज सरकार ने बोधगया-मन्दिर से बौद्ध पुजारी को हटाकर उसे पुन: हिन्दू महन्त के अधीन कर दिया। तब से मन्दिर पर मठ तथा महन्त का पुन: अधिकार हो गया, जो भारत के स्वाधीन होने तक यथावत् वना रहा।

जैसा कि हमने देखा भारत में इस्लामी शासन का अस्त हो जाने के बाद जब सम्पूर्ण भारत में अंग्रेजों का शासन दृढ़मूल हो गया, तो एक ओर दक्षिण-पूर्व एशिया में फैले बौद्धधर्म के असंख्य अनुयायी पुन: अपने सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तीर्थ का दर्शन करने के निमित्त बोधगया पहुँचने की चेष्टा करने लगे। दूसरी ओर कुछ प्रबुद्ध अंग्रेज विद्वानों तथा

नियुक्त किया गया। पहले वे उत्तरप्रदेश के मुख्य इंजीनियर थे। १८६२ से १८८४ तक उन्होंने २३ विस्तृत खण्डों में 'भारत के पुरातात्विक सर्वेक्षण' के विवरणों का प्रकाशन किया। बाद में लार्ड कर्जन ने कानून बनाकर भारतीय धार्मिक स्मारकों के संरक्षण का भार अपने ऊपर ले लिया। ('बौद्धधर्म और बिहार', (२४४-४५)

५८. बौद्धधर्म और बिहार, पृ. २४५-२४७

५९. इंटरनेट – www.buddhanet.net/bodh_gaya/bodh_gaya 04.htm

अधिकारियों ने भी इस स्थान के महत्त्व को समझा और इसके जीर्णोद्धार के प्रयास में लग गये। परन्तु खेद की बात यह है कि उन्होंने अपने देश की धार्मिक परम्परा के अनुसार ही हिन्दू तथा बौद्ध धर्मों को बिल्कुल भिन्न तथा विरोधी सम्प्रदायों के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया। जबकि बुद्ध स्वयं आजीवन एक हिन्दू रहे, वर्तमान बोधि-मन्दिर (५वीं या ६ठीं शताब्दी में) का एक हिन्दू द्वारा निर्माण कराया गया था और १३वीं शताब्दी में बौद्धों द्वारा उस स्थान का परित्याग कर देने के बाद १५९० ई. से एक हिन्दू महन्त तथा उनके शिष्यों ने सैकड़ों वर्षों तक इसका परिरक्षण किया। अत: जहाँ प्राचीन काल में हिन्दुओं तथा बौद्धों के बीच कोई भेदभाव नहीं था, दोनों ही भगवान बुद्ध को अपना अवतार या शास्ता मानते थे; वहीं ईसाई धर्मावलम्बी अंग्रेजों तथा कुछ विदेशी बौद्धों ने सब कुछ साम्प्रदायिक चश्मे से देखना प्रारम्भ किया। इस सन्दर्भ में यह स्मरणीय है कि स्वामी विवेकानन्द तथा उनकी अंग्रेज शिष्या भगिनी निवेदिता ने इस भ्रान्ति को दूर करने का काफी प्रयास किया। स्वामी विवेकानन्द ने लिखा है कि भगवान बुद्ध जन्म से एक हिन्दू थे, आजीवन हिन्दू ही रहे। स्वामीजी की विशेष इच्छा थी कि बोधगया-तीर्थ सारे विश्व के हिन्दुओं तथा बौद्धों की एकता और सम्मिलन का केन्द्र बना रहे; इसीलिये उन्होंने अपने विचारों के प्रचार-प्रसार हेतु जो अंग्रेजी पत्रिका निकाली, उसका नाम 'प्रबुद्ध-भारत' रखा था।

सर एडविन अर्नाल्ड ने अंग्रेजी में बुद्ध के जीवन-चरित्र पर "The Light of Asia" (एशिया की ज्योति) पुस्तक लिखकर सारे जगत् को भगवान बुद्ध की महिमा से अवगत कराया था। परन्तु दुर्भाग्यवश उनके ध्यान में यह बात नहीं आयी कि भगवान बुद्ध आजीवन एक हिन्दू ही रहे और वे प्राचीन हिन्दू समाज के एक प्रमुख सुधार-आन्दोलन के नेता थे। उनके द्वारा उपदिष्ट बहुत-सी बातें हिन्दू धर्म तथा समाज ने क्रमश: आत्मसात कर लिया। १८८५ ई. में सर अर्नाल्ड बोधि-मन्दिर को देखने आये और उन्होंने भारत तथा ब्रिटेन की सरकारों से अनुरोध किया कि वे इस मन्दिर का अधिग्रहण करके बौद्ध लोगों को सौंप दें। उन्होंने बौद्ध धर्म को माननेवाले देशों को भी पत्र लिखे कि वे इसे अपने अधिकार में लेने की चेष्टा करें। कुछ वर्षों बाद १८९१ ई. में अनागरिक धर्मपाल श्रीलंका से भारत आये और बोधगया का दौरा करने के बाद उन्होंने एक दीर्घकालीन आन्दोलन का श्रीगणेश किया। इस बीच वे अमेरिका के शिकागो नगर में जाकर वहाँ आयोजित सर्वधर्म-सम्मेलन में बौद्ध धर्म का प्रतिनिधित्व भी कर आये। मन्दिर को अधिगृहीत करने का प्रयास करने हेतु उन्होंने 'महाबोधि सोसायटी' नामक एक संस्था की स्थापना की और उसका मुख्य कार्यालय भारत की तत्कालीन कलकत्ते में ले आये। १९३२ ई. में अपने देहान्त के पूर्व तक वे निरन्तर हर तरह के उपाय अपना कर महाबोधि-मन्दिर पर अधिकार पाने का प्रयास करते रहे। परन्तु अंग्रेज सरकार को उनके इस प्रयास में कोई रुचि न थी। भारत को पूर्ण स्वाधीनता मिल जाने के बाद १९४९ ई. में बिहार सरकार ने 'बुद्धगया मन्दिर अधिनियम' पास किया। तत्कालीन महन्त श्री हरिहर गिरि ने २३ मई १९५३ को भारत सरकार के उपराष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन् के हाथों में बोधि-मन्दिर का पूरा अधिकार सौंप दिया। तब से इस 'बोधगया मन्दिर प्रबन्ध समिति' में हिन्दू, बौद्ध तथा एक सरकारी प्रतिनिधि मनोनीत होकर मन्दिर की व्यवस्था सँभालते हैं।

१९५६ में बुद्ध के परिनिर्वाण की २५०० वीं वर्ष मनाने हेतु केन्द्र सरकार ने मन्दिर का विधिवत संस्कार कराया। इसकी प्राचीन कारीगरी में कुछ हेरफेर किया गया। मन्दिर के दक्षिण में स्थित यहाँ के प्रसिद्ध सरोवर का भी जीर्णोद्धार कराया गया था। एक पुरातत्व-संग्रहालय का भवन बनवाकर आसपास प्राप्त हुई मूर्तियों का भी संरक्षण किया गया, जिनमें से अधिकांश पालकालीन हैं। इस अवसर पर एक उत्तम यात्री-निवास भी बनाया गया।[६०]

❖ (क्रमशः) ❖

६०. बौद्धधर्म और बिहार, पृ. २७७-७८

स्वामी स्वरूपानन्द (१)

स्वामी अब्जजानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अल्पावधि जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आये। कुछ युवकों ने उन्हीं के चरणचिह्नों पर चलते हुए त्याग-संन्यास का जीवन भी अंगीकार किया था। प्रस्तुत है स्वामीजी के उन्हीं संन्यासी शिष्यों में से कुछ की जीवन-गाथा। इसे बँगला ग्रन्थ 'स्वामीजीर पदप्रान्ते' से लिया गया है। हिन्दी अनुवाद में कहीं-कहीं अंग्रेजी संस्करण से भी सहायता ली गयी है। – सं.)

बेलूड़ मठ उन दिनों नीलाम्बर मुखर्जी के भाड़े के भवन में था। स्वामीजी अपने गुरुभाइयों तथा शिष्यों से आवृत्त होकर मठ में निवास कर रहे थे। कुछ ही दिन पूर्व स्थायी मठ के लिये जमीन खरीदी गयी है, जहाँ एक पुराना जीर्ण मकान मात्र है। धीरामाता (ओलीबुल), निवेदिता (मार्गरेट) तथा जया (मैक्लाउड) आदि कुछ पाश्चात्य भक्त उसमें निवास कर रहे हैं। एक दिन शाम को स्वामीजी टहलते हुए मठ की नयी जमीन में आकर धीरामाता आदि को देखकर आनन्दपूर्वक बोल उठे, "We have made an acquisition today." – (आज हमें एक रत्न प्राप्त हुआ है।) हाल ही में आये एक युवक को संन्यास-दीक्षा देने के बाद स्वामीजी आनन्दोच्छ्वास प्रकट कर रहे थे। युगाचार्य विवेकानन्द के रत्नतुल्य ये संन्यासी-शिष्य ही स्वामी स्वरूपानन्द थे। ज्ञान तथा कर्म, तपस्या तथा तत्त्वज्ञान में स्वरूपानन्द का जीवन रामकृष्ण संघ के लिये सचमुच ही एक महा-मूल्यवान सम्पदा थी। स्वामीजी का उपरोक्त कथन केवल एक उच्छ्वासोक्ति मात्र न था, बल्कि एक सुयोग्य शिष्य के प्रति एक ब्रह्मनिष्ठ आचार्य का अमोघ आशीर्वचन था। स्वरूपानन्द का अल्पायु परवर्ती जीवन इसका ज्वलन्त साक्ष्य है।

स्वामी स्वरूपानन्द के पूर्वाश्रम का नाम था अजयहरि वन्द्योपाध्याय। वे ८ जुलाई १८७१ ई. के दिन कलकत्ते के भवानीपुर अंचल के एक सम्भ्रान्त ब्राह्मण परिवार में पैदा हुए थे। घर में श्रीकृष्ण की सेवा-पूजा थी, अत: बचपन से ही उनके हृदय में भगवद्-भक्ति का बीज अंकुरित हो उठा था। वैष्णव भावधारा में पलने के फलस्वरूप विनय तथा पर-दु:ख-संवेदना अजयहरि के सहज संस्कार में परिणत हो गया था। घर के परिवेश के प्रभाव के कारण ही बाल्यकाल से ही उनके मन में ऐसी धारणा थी कि जगत् के प्रतिपालक परमपिता परमेश्वर ही मनुष्य के पाप-पुण्य तथा सुख-दु:ख के संचालक हैं। संसार के जटिल घात-प्रतिघातों ने उनकी बचपन की इस धारणा को उत्तरोत्तर परिशोधित करके, अन्तत: उन्हें अद्वैत-तत्त्व की चरम अनुभूति तक पहुँचा दिया था।

एक दिन भीड़भाड़ युक्त राजपथ पर चलते-चलते किशोर अजयहरि ने देखा – एक निर्धन वृद्धा अपनी आँखों के आँसू पोंछती हुई सड़क की धूल में पड़े एक मुट्ठी चावल के दानों को बीनकर एकत्र कर रही है। एक पथिक के धक्के से वृद्धा के हाथ का बर्तन नीचे गिर पड़ा था और बड़े कष्ट से भिक्षा में प्राप्त थोड़े-से चावल के दाने धूल में बिखर गये थे। इस मर्मभेदी दृश्य ने उस दिन इस तरुण के हृदय को आन्दोलित कर दिया था। अजयहरि पीड़ा से चिल्ला उठे थे, "यदि ईश्वर का अस्तित्व है, तो वे बैठे-बैठे क्या कर रहे हैं? इन सब घटनाओं को वे रोकते क्यों नहीं?" संसार के वास्तविक चित्र जितने ही उनके नेत्रों के सम्मुख आने लगे, उतना ही वे इस जगत् के मूल रहस्य को जानने के लिये उद्विग्न तथा चंचल होने लगे। दु:ख-विरोधमय इन घटनाओं के प्रवाह ने तरुण अजयहरि को जगदातीत सत्य की ओर प्रेरित किया, पर उनके अन्तर की वेदना ने शरीर पर भी प्रतिक्रिया दिखायी थी। इसीलिये वे कभी उत्तम स्वास्थ्य का सुख नहीं ले सके।

अजयहरि की तत्कालीन मनोदशा के बारे में भगिनी निवेदिता ने अपनी पुस्तक The Master As I Saw Him (मेरे गुरुदेव : जैसा उन्हें देखा) में लिखा है, "ऐसी ही दो-तीन घटनाओं ने एक वर्ष तक उन्हें इतनी तीव्र मानसिक पीड़ा दी कि उनका स्वास्थ्य बिगड़ गया और इसके बाद वे कभी अच्छे स्वास्थ्य का उपभोग नहीं कर सके। परन्तु इसके फलस्वरूप उन्हें जीवन के प्रति जो स्थिर बोध प्राप्त हुआ, उससे उन्हें शान्ति की उपलब्धि हुई।... वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि हम जो इस दुनिया का स्वप्न देखा करते हैं – सुख-दु:ख, आनन्द-पीड़ा, न्याय-अन्याय के सपनों से पूर्ण इस जगत् के मूल में हमारा अज्ञान तथा अहं निहित है। उन्होंने निश्चय किया कि वे इस माया पर विजय प्राप्त करेंगे, ज्ञान तथा प्रज्ञा पर अधिकार प्राप्त करेंगे, विपरीत अनुभवों के द्वन्द्व से पार चले जायेंगे, अर्थात् हिन्दू लोग जिसे मुक्ति कहते हैं, उसी स्थायी अभेद चेतना के जगत् की उपलब्धि कर लेंगे।

"अब से वे सर्वोच्च अवस्था पाने की आकांक्षा में दग्ध होने लगे। इसके बाद वे जितने वर्ष भी अपने पिता के घर में रहे, वह काल उनकी कठोर साधना में बीता। विभिन्न सूत्रों से ज्ञात होता है कि उनकी यह कठोरता परवर्ती काल में विभिन्न मठों में रहते समय की कठोर साधनाओं से भी बढ़कर था। बहुत दिनों बाद जब मैं अल्मोड़ा में उनसे गीता पढ़ रही थी, उस समय मैंने उन्हें देखकर समझा कि ईश्वर-प्रेम कितनी प्रचण्ड व्याकुलता का रूप ले सकता है!"

बचपन से ही अजयहरि के मन में विद्या के प्रति विशेष अनुराग था। वे अपनी प्रतिभा के बल पर उच्च शिक्षा, उन्नत नीतिबोध तथा परिमार्जित रुचि के अधिकारी हुए थे। संस्कृत साहित्य तथा संस्कृति में उन्हें असाधारण विद्वत्ता प्राप्त हुई थी; इसीलिये वैदिक धर्म तथा विरासत के संरक्षण के प्रति उनका असीम उत्साह था। मुहल्ले के युवकों को एकत्र करके उनके नैतिक जीवन-गठन तथा उन्हें विविध प्रकार के जनोपयोगी कार्यों में प्रेरित करने में अजयहरि का उद्यम तत्कालीन समाज की एक ऐतिहासिक घटना है। परवर्ती काल में अपनी विद्वत्ता तथा देशभक्ति से अखिल-भारतीय ख्याति लाभ करनेवाले श्री सतीशचन्द्र मुखर्जी इस क्षेत्र में उनके मित्र तथा सहयोगी थे।

उन लोगों ने 'भागवत चतुष्पाठी' नाम से एक संस्कृत विद्यालय आरम्भ करके आम लोगों के लिये शास्त्र, दर्शन तथा व्याकरण के अध्ययन की व्यवस्था की थी। इन्हीं लोगों के प्रयास से विद्यालय में संस्कृत के अच्छे विद्वान् आचार्यों की नियुक्ति हुई थी। भिक्षा तथा चन्दे में प्राप्त धन से ही इन सब कार्यों का व्यय-भार वहन किया जाता। छात्र-समुदाय में उच्च आदर्शों का प्रचार – उसके लिये नियमित पाठचक्र, व्याख्यान, चर्चा आदि की व्यवस्था करना और पुस्तकालय चलाना भी इस विद्यालय का ही एक कार्य था। इस विद्यालय के मुखपत्र के रूप में 'Dawn' (प्रभात) नामक एक मासिक पत्रिका भी अजयहरि के सम्पादन में प्रकाशित होने लगी। इसकी बिक्री से प्राप्त होनेवाला धन भी उपरोक्त बहुविध कार्यों में खर्च होने लगा। अन्त में, १८९७ ई. में अजयहरि की प्रेरणा से सतीश मुखोपाध्याय द्वारा 'Dawn Society' (डॉन सोसायटी) की स्थापना हुई। इसके बाद डॉन पत्रिका इसी समिति के द्वारा चलायी जाती रही।[१] तत्कालीन समाज में आदर्शवादी 'डॉन' पत्रिका का प्रभाव सर्वविदित है। भारत की राष्ट्रीय शिक्षा तथा स्वाधीनता आन्दोलन में इस 'डॉन' पत्रिका ने विशेष भूमिका ग्रहण की थी। संन्यास के लिये गृहत्याग के पहले तक अजयहरि भी सतीश बाबू के साथ 'डॉन' पत्रिका के सह-सम्पादक बने रहे।

१८९७ ई. का वर्ष था। विश्व में चारों ओर वेदान्त के जीवनदायी सन्देश का प्रचार करने के बाद स्वामीजी भारत लौटे। लोग दल-के-दल मठ (नीलम्बर-भवन) में उनका दर्शन करने आया करते थे। अलग-अलग लोग भिन्न-भिन्न उद्देश्य लेकर और अनेक जिज्ञासु अनेक प्रकार के प्रश्न लेकर स्वामीजी के पास आते। किसी अध्यात्म-पिपासु के आने पर स्वामीजी आनन्द से उत्फुल्ल हो उठते और वे लोग भी आनन्द तथा शान्ति से परिपूर्ण होकर लौटते। गर्मी का मौसम और अप्रैल या मई का महीना था। एक दिन अपराह्न में कलकत्ते से आये हुए दर्शनार्थियों की भीड़ हॉल में बैठी हुई थी – स्वामीजी प्रसन्नता से उज्ज्वल दृष्टि से सबकी ओर देख रहे थे और विविध विषयों पर बातें कर रहे थे। सभी लोग मंत्रमुग्ध होकर महापुरुष के सान्निध्य का सुख पाते हुए धन्यता का अनुभव कर रहे थे। क्रमश: समय बीतता गया और संध्या होने को आ गयी। एक-एक कर सभी लोग स्वामीजी के चरणों में प्रणाम करके उठ खड़े हुए, परन्तु एक दुबला-पतला युवक बाहर नहीं गया। उसकी आयु २६ की रही होगी – मुख-नेत्रों पर मेधा के लक्षण थे। युवक स्वामीजी के चरणों में बैठ गया और धीरे-धीरे अपने संन्यास-ग्रहण का संकल्प बताने लगा। शिष्य के निश्छल सरल भाव पर आचार्य मुग्ध हो गये। इस प्रकार युवक अजयहरि स्वामीजी की कृपादृष्टि के दायरे में आ गया। गुरु तथा शिष्य का यही प्रथम मिलन था।

दिन-पर-दिन अजयहरि के वैराग्य की आग इतनी तीव्र होने लगी कि समस्त सामाजिक कर्तव्य उन्हें अछेद्य बन्धन जैसे प्रतीत होने लगे। इसके पहले ही उनका विवाह भी हो चुका था। सांसारिक तथा आध्यात्मिक – दोनों प्रकार के खिंचावों में पड़कर अब वे बेचैन हो उठे। अब अध्यात्म का अदम्य आकर्षण उन पर हावी होने लगा। एक दिन स्वामीजी ने उनके संसार-त्याग की व्याकुलता की परीक्षा ली। बोले, "अजयहरि, क्या तुम संन्यास के कठोर नियमों का पालन कर सकोगे? यदि मैं तुम्हें साँप के मुख में जाने को कहूँ या आग उगलते तोप के सामने जाने को कहूँ – तो उसमें मृत्यु को निश्चित जानकर भी बिना सोच-विचार किये, अविचिलित हृदय के साथ तत्काल उसे कर सकोगे? सुख का अभिलाषी होने से काम नहीं चलेगा। काम-कांचन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रख सकोगे। हृदय की ममता को टुकड़े-टुकड़े करके विसर्जित कर देना होगा। **अभिमानं सुरापानं गौरवं घोर रौरवं प्रतिष्ठा शूकरी-विष्ठा** – जानकर यह सब त्याग देना होगा। गुरु तथा आत्मा को देव मानकर '**आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय**' जीवन बिताना होगा। कर सकोगे? सोच-समझकर अग्रसर होना – नहीं तो, जैसे परिवार आदि के साथ इतने दिन सद्भाव से जीवन बिता रहे थे, अब भी लौटकर वैसे ही मृत्यु पर्यन्त रहो।" श्री गुरुदेव के मुख से यह कठोर उक्ति सुनकर भी वैराग्यवान शिष्य का मन विचलित

१. Originally *Dawn* was published as an organ of the Bhagavat Chatushpathi, [the name of the school started by Ajay and Satish] but it later became the organ of the Dawn Society, and still later, an organ of the Swadeshi Movement, or resurgent Indian Nationalism. The journal was founded by Satishchandra Mukherjee in 1897 in collaboration with his friend, Ajayhari Banerjee, who inspired the former to undertake this work. (*The Origins of the National Education Movement*, by Prof. Haridas Mukherjee & Prof. Uma Mukherjee.)

नहीं हुआ। उनके दुर्बल शरीर में मानो अमित तड़ित्माला प्रवाहित होने लगी। अजयहरि ने अपने पूरे हृदय से संन्यास ग्रहण करने का ही संकल्प किया। स्वामीजी ने आनन्दपूर्वक उन्हें मठ में रहने की अनुमति दे दी।

अजयहरि को मठ में रहते कई सप्ताह बीत गये। आखिर उनके जीवन का चिर-आकांक्षित शुभ दिन आ पहुँचा। स्वामीजी ने उन्हें 'जगद्धिताय' भगवत्-चरणों में अर्पित कर दिया। स्वामी सारदानन्द ने इस घटना का वर्णन करते हुए लिखा है – "अमावस्या की रात समाप्त-प्राय थी। ब्राह्म मुहूर्त – जगत् पर अधिकार जमाकर क्षण भर के लिये मानव के चंचल मन को अपने प्रभाव से स्थिर करके भगवत्प्रेम के निर्मल जल में सराबोर कराते हुए विद्यमान था। गुरु विरजा-होम पूरा करके हँसते हुए खड़े हुए। शंकर आदि भारत के समस्त आचार्य तथा ऋषिकुलों द्वारा पवित्रीकृत, ज्ञान-वैराग्य से समुज्वल, गैरिक वसन से शोभित-काय, मुण्डित-सिर, भस्म तथा तिलक से शोभित ललाट शिष्य भी श्रद्धापूर्वक उनके चरणों में लोट गये। स्वामीजी ने अपने सु-शिष्य को स्नेहपूर्वक उठाकर सदा-सर्वदा के लिये श्रीरामकृष्ण के चरण-कमलों में समर्पित कर दिया। जगत् के लिये अजयहरि की मृत्यु हो गयी और स्वामी स्वरूपानन्द नवीन जीवन पाकर प्रफुल्ल-वदन मन्दिर से बाहर निकल आये। उन्होंने देखा कि उषा की रक्तिम छटा से पूर्व गगन उद्भासित हो उठा है। स्वामीजी तानपूरा लिये कमरे को अपूर्व सुरलहरी से परिपूर्ण कर रहे हैं और श्री मन्दिर में आरती आरम्भ हो गयी है।[२] स्वरूपानन्द ने स्वयं भी अपनी दैनन्दिनी में इस दिन को स्मरणीय मानते हुए लिखा है – 'On 29 March 1898, Tuesday, A.H.B. became Swarupananda.' (आज २९ मार्च १८९८, मंगलवार को अजयहरि बन्द्योपाध्याय को स्वरूपानन्द के रूप में नवजीवन प्राप्त हुआ।)

स्वरूपानन्द को शिष्य के रूप में पाकर स्वामीजी कितने प्रसन्न हुए थे, यह उनकी एक ही उक्ति से भलीभाँति समझा जा सकता है। लेख के आरम्भ में भी बता दिया गया है कि स्वरूपानन्द को पाकर उन्होंने आनन्द के अतिरेक में कहा था कि मानो उन्हें एक अति मूल्यवान रत्न मिल गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अन्तर्द्रष्टा आचार्य की यह धारणा शिष्य के जीवन में सचमुच ही सत्य प्रमाणित हुई थी। स्वरूपानन्द के रुग्ण शरीर के विषय में स्वामीजी को बड़ी चिन्ता थी। मठ में स्वामीजी ने स्वयं ही उनके लिये साधारण भोजन के साथ ही अतिरिक्त आहार की भी व्यवस्था कर दी थी। उन्होंने मठाध्यक्ष ब्रह्मानन्दजी को बुलाकर कहा था, "स्वरूप का स्वास्थ्य ठीक नहीं है। उसे केवल दाल-सब्जी सहन नहीं होगी। थोड़े-से दूध की व्यवस्था कर दो।"

स्वरूपानन्द के संन्यास-ग्रहण के चार दिन पूर्व ही स्वामीजी ने अपनी पाश्चात्य शिष्या कुमारी मार्गरेट नोबल को ब्रह्मचर्य व्रत में दीक्षित करके अपने भारतीय कार्य में उत्सर्ग कर दिया था। इस प्रकार श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द को निवेदित-प्राण मार्गरेट भगिनी निवेदिता में परिणत हो गयी थीं। स्वामीजी ने स्वरूपानन्द को उन्हें बँगला भाषा सिखाने को कहा। स्वरूपानन्द की डायरी से पता चलता है कि उन्होंने स्वामीजी के आदेश पर २८ अप्रैल (१८९८) को सुबह से निवेदिता को बँगला पढ़ाना आरम्भ किया। यह भी उल्लेखनीय है कि निवेदिता के आध्यात्मिक जीवन में ध्याननिष्ठ स्वरूपानन्द के व्यक्तित्व का प्रभाव भी कम न था। वे उनके बँगला भाषा के शिक्षक मात्र ही नहीं थे, बल्कि उनकी आन्तरिक जीवन की साधना में भी कई तरह से सहायता पहुँचाते थे। परवर्ती काल में भगिनी ने स्वयं ही लिखा है, "भगवत्प्रेम की क्यों परम तृष्णा के साथ तुलना की जाती है, यह बात मैं अल्मोड़ा में उनके गीता-पाठ के समय समझ सकी थी। स्वामी स्वरूपानन्द के प्रभाव से मैंने पूरा मन लगाकर ध्यान का अभ्यास आरम्भ किया। उनसे यह सहायता न मिलने पर मेरे जीवन के सर्वोत्तम क्षण यूँ ही निकल जाते।"[३]

अपनी The Master As I Saw Him (मेरे गुरुदेव : जैसा उन्हें देखा) ग्रन्थ में निवेदिता ने स्वामी स्वरूपानन्द की सहायता के लिये उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त की है। उस ग्रन्थ से एक अन्य उद्धरण देना अनुचित नहीं होगा, विशेषकर इसलिये कि भगिनी की इन उक्तियों के द्वारा स्वरूपानन्द के चरित्र को समझने में सहायता मिलेगी। निवेदिता लिखती हैं – "यह मेरा महा-सौभाग्य था कि इन दिनों मुझे बँगला भाषा तथा हिन्दू धर्मशास्त्रों के शिक्षक के रूप में स्वामी स्वरूपानन्द मिल गये थे। इसके फलस्वरूप – मेरे चारों ओर जो घनीभूत भाव तथा अनुभूति का राज्य विद्यमान था, उसकी धारणा करने में मैं कुछ हद तक समर्थ हुई थी; यह कार्य इसलिये सम्भव हो सका था कि जैसे दर्पण द्वारा संकेत का संचार करते समय बड़े दर्पण तथा छोटे दर्पण के बीच स्थित रहनेवाला व्यक्ति संकेत की भाषा को समझ लेता है, वैसे ही मैं स्वरूपानन्द तथा अपने गुरुदेव के मन के बीच संचार के मार्ग में आ सकी थी।"

निवेदिता के अनेक पत्रों में स्वरूपानन्द का प्रशंसापूर्ण उल्लेख मिलता है। ७ अगस्त १८९८ ई. के एक पत्र में वे लिखती हैं – "स्वामीजी को छोड़ दिया जाय, तो स्वरूपानन्द उन बंगालियों में एक हैं, जिनके साथ परिचित होकर मुझे गर्व का अनुभव होता है।" ❖ **(क्रमशः)** ❖

२. द्रष्टव्य प्रबासी (फाल्गुन १३१३ बंगाब्द) में स्वामी सारदानन्द द्वारा लिखित 'स्वामी स्वरूपानन्द' प्रबन्ध।

३. द्रष्टव्य भगिनी निवेदिता का The Master As I Saw Him ग्रन्थ।

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

२२६. पाप डुबावे पुण्य उबारे

एक दिन भगवान महावीर का प्रवचन समाप्त होने पर जयन्ती नामक एक धर्मपरायण महिला ने उनसे प्रश्न किया, ''भगवन् ! जीवों की अधोगति का क्या कारण है? क्या उनका जीवन भारी हो जाता है कि जिससे उनका पतन हो जाता है?'' महावीर ने उत्तर दिया, ''हिंसा, चोरी, झूठ बोलना, दुराचार, परिग्रह, स्वार्थ आदि दुर्गुणों से जीवों का जीवन भारी हो जाता है और वे पतन के गर्त में गिरते हैं।''

''यदि वे पुण्य कर्म करें, तो क्या उनका जीवन भारी नहीं रहता?'' क्या पुण्य भारी नहीं होते? क्या पुण्य-कर्म उसे तार सकते हैं? – भद्र महिला ने पुनः प्रश्न किया। तीर्थंकर बोले, ''भारी हर वस्तु रहती है, पर उनके भारी होने के भिन्न-भिन्न कारण होते हैं। मान लो तुम्हारे पास दो मशक हैं। उनमें से एक में हवा भर दी जाए और दूसरी में कंकड़-मिट्टी डालकर दोनों को यदि पानी में छोड़ा जाए, तो पहली मशक तैरती दिखाई देगी, जबकि दूसरी डूब जाएगी। इसी प्रकार पुण्यवान जीव ऊर्ध्वगति प्राप्त करता है, जबकि पापी जीव की अधोगति होती है। उनकी ऊर्ध्वगति और अधोगति का कारण उनकी स्वभावगत अयोग्यता है। मैं इसे एक अन्य उदाहरण द्वारा और स्पष्ट करूँगा। मान लो, एक बर्तन में मूंग के दाने उबाले जा रहे हैं। उबलने के बाद दिखेगा कि कुछ दाने ज्यों-के-त्यों हैं। उन्हें छाँटकर दुबारा-तिबारा उबाला जाए, फिर भी वे पकेंगे नहीं। इसी प्रकार यदि हम जमीन में कुछ बीज डालें, तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उन सभी से पौधे उत्पन्न होंगे। इसी प्रकार कुछ जीवन ऐसे होते हैं कि स्वभावगत अयोग्यता होने से वे मोक्ष-प्राप्ति की ओर प्रवृत्त नहीं होते। सद्गुरु कितना भी प्रयास करें, उन पर कोई असर नहीं होता। यदि वे दुराचार को त्यागकर पुण्य कर्मों में रत हों, तो उनके स्वभाव-परिवर्तन के कारण उनके उबरने – मुक्ति पाने की आशा की जा सकती है।'' इस सोदाहरण स्पष्टीकरण से जयन्ती सन्तुष्ट होकर लौट गई।

२२७. शठ सुधरहिं सत्संगति पाई

श्री चैतन्य महाप्रभु के नवद्वीप में दो परम प्रिय शिष्य थे – नित्यान्द और हरिदास। वे घर-घर जाकर लोगों को हरिनाम का जप करने का उपदेश देते थे। एक बार वे एक बस्ती में गये। वहाँ जगाई और मधाई नामक दो दुष्टों ने उत्पात मचा रखा था। नित्यानन्द ने जब लोगों को उन दोनों के हाथों पिटते हुए देखा, तो वे उनके पास गये और बोले, ''आप लोग बेकसूर लोगों को पीटने और तंग करने में अपना समय क्यों गँवा रहे हैं। इसके बजाय यदि आप भक्तवत्सल भगवान श्रीकृष्ण का गुणगान करने और हरिनाम का संकीर्तन करने में हमारा साथ दें, तो इहलोक और परलोक दोनों में आपको सद्गति मिलेगी। इन शब्दों का दोनों दुष्टों पर कोई असर न हुआ। उल्टे मधाई को गुस्सा आ गया और उसने जमीन पर पड़ी लोहे की छड़ उठाकर नित्यानन्दजी को पीटना शुरू किया। इससे उनके शरीर पर कई जगह चोटें आईं। उनके शरीर से रक्त की धारा बहने लगी। मधाई और आघात करने ही वाला था कि जगाई ने उसका हाथ पकड़कर रोका।

नित्यानन्द के घायल होने की खबर जब चैतन्य महाप्रभु के पास पहुँची, तो वे तुरन्त घटना-स्थल पर आ पहुँचे। प्रिय शिष्य को लहूलुहान देख उनकी आँखों से अश्रुधारा बहने लगी। उनके मुख से 'चक्र-चक्र' शब्द निकल पड़े। नित्यानन्द ने सुना, तो उन्हें लगा कि गुरुदेव मधाई पर चक्र चलाने के लिये भगवान श्रीकृष्ण से प्रार्थना कर रहे हैं। घायल अवस्था में ही वे उठ खड़े हुए और उन्होंने महाप्रभु दण्डवत कर उनसे कहा, ''भगवन्, इनका कोई दोष नहीं। पूर्वजन्म के मेरे पापों के कारण ही भगवान ने मुझे यह दण्ड दिया है। ये दोनों तो निमित्त मात्र हैं। आप इन्हें क्षमा करें, इनका अनिष्ट न करें। जगाई-मधाई ने सुना, तो उन्हें काटो तो खून ही नहीं। उनके लिये यह अप्रत्याशित था। पश्चात्ताप से दग्धहृदय वे दोनों चैतन्यदेव की टोली के साथ हरिनाम-संकीर्तन के प्रचार-कार्य में जुट गये।

कर्मयोग – एक चिन्तन (१०)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने रामकृष्ण मिशन आश्रम, राजकोट, गुजरात में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन पूना की सीमा माने और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है।)

जब भी हम गीता पढ़ते हैं, तो सावधानी पूर्वक हमें देखना होगा कि भगवान किन शब्दों का प्रयोग कर रहे हैं। गीता की महिमा जब हम पढ़ते हैं, तो उसमें भगवान व्यास लिखते हैं – **पद्मनाभस्य मुखपद्मात् विनिसृताः**– भगवान श्रीविष्णु के श्रीमुख से यह निकली हुई है यह भगवान की प्रत्यक्ष वाणी है।

पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन स्वयं।
व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना मध्येमहाभारतम्।।

गीता अर्जुन को जागृत, सावधान करने के लिये स्वयं भगवान के द्वारा कही गयी है। इसीलिये गीता का एक भी शब्द निरर्थक नहीं है। यहाँ अर्जुन के लिये भगवान ने एक शब्द का प्रयोग किया है। उसे प्रत्येक कर्मयोग के साधक को समझ लेना चाहिए। उसके बिना हम कर्म को योग नहीं बना सकते। भगवनान अर्जुन को अनघ कहते हैं। यह विशेषण है। अघ कहते हैं पाप को। अर्जुन के जीवन में कोई भी पाप नहीं हैं, इसलिए वे अनघ हैं।

स्वामी विवेकानन्द तथा अन्य अनेक महापुरुषों ने कहा है – Purity is the first condition of the spiritual life. Bleesed are they who are pure in the heart. because they shall see god. भगवान ईसामसीह कहते हैं, धन्य हैं वे जिनका हृदय शुद्ध है, क्योंकि वे भगवान का दर्शन करेंगे।

अर्जुन अनघ हैं। उनके जीवन में कोई पाप नहीं है। आप-हम सभी लोग कर्म की साधना करना चाहते हैं, अत: आत्मनिरीक्षण करके देखें कि हमारे जीवन में कोई पाप तो नहीं है? पाप-पुण्य को सरल शब्दों में समझाते हुये स्वामीजी कहते हैं, – पाप वही है, जो हमें ईश्वर से विमुख करता है और पुण्य वह है, जो हमें ईश्वर की ओर अभिमुख करता है। हमारे जीवन में मांसाहार करना या शाकाहार करना पाप है या पुण्य है, इसका महत्त्व नहीं हैं। हम जो कर्म कर रहे हैं, वह हमें ईश्वर के अभिमुख कर रहा है या विमुख कर रहा है, उसे देखना है। जो कर्म हमें ईश्वर से विमुख करे, वह पाप कर्म है और जो कर्म हमें ईश्वर की ओर ले जाय वह पुण्यकर्म है। इस दृष्टि से भगवान अर्जुन को अनघ कह रहे हैं।

अब हमें दुखी या हताश होने की आवश्यकता नहीं है। भगवान बहुत बड़ा आश्वासन भी देते हैं। गीता एकमात्र वह ग्रंथ हैं, जिसमें मानव-जाति के लिए साधनों के सर्वांगीण उपाय बताये गये हैं। स्वामी रामसुखदास जी महाराज कहते हैं कि संसार में जो भी व्यक्ति अपना कल्याण चाहता है, उसके लिए गीता है। व्यक्ति चाहे किसी भी धर्म का हो, किसी भी अवस्था में हो, यदि व्यक्ति अपने जीवन का कल्याण चाहता है, तो गीता उसके लिए है।

भगवान ने तो अनघ शब्द लगाकर यहाँ एक शर्त लगा दी है कि व्यक्ति को पापरहित होना चाहिए। यह सुनकर हम घबड़ा जाते हैं। भगवान ९वें अध्याय में कहते हैं –

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।।३०।।
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।।३१।।

अरे अर्जुन, मेरे भक्तों का कभी नाश नहीं होता। अनन्यभाव से मेरा भजन करनेवाला कभी दुराचारी हो ही नहीं सकता। वह तो साधू ही है। यदि तुम अनन्यभाव से भजन करो, तो तुम साधु ही हो।

हमको ऐसा कर्म जानबुझकर नहीं करना चाहिए, जो हमें भगवत विमुख करे और प्रयत्न पूर्वक ऐसा कर्म करना चाहिये जो हमें भगवान से अभिमुख करता हो।

गीता में साधना की पद्धति बतायी है। गीता के ये श्लोक साधना की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं और उन्हें पढ़कर हम अपने जीवन को परिवर्तित कर सकते हैं। यदि मेरे मन में ये विचार आया कि मैं इन्हें गीता सुनाकर उपकृत कर रहा हूँ, तो मेरी साधना भ्रष्ट हो जायेगी। मैं साधनच्युत हो जाऊँगा। क्योंकि साधना हमेशा उत्तम पुरुष में होती है। गीता में निष्कर्म्यसिद्धि की प्राप्ति की चर्चा है –

न कर्मणामनारम्भात् नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।। ३/४

गीता साधना की दृष्टि से जब पढ़ते हैं, तो उसको शब्दश: पढ़ना चाहिए। **पुरूषः न कर्मणा अनारंभात् नैष्कर्म्यं अश्नुते** – यहाँ पुरुष: का तात्पर्य व्यक्ति है। पुरुष या स्त्री, युवक या युवती, साधक और साधिका, यहाँ किसी भी व्यक्ति के लिए पुरुष: शब्द का प्रयोग किया है। गीता पढ़ने से हमें क्या लाभ होगा? नैष्कर्म्य सिद्धि प्राप्त हो जायेगी।

जीवन में बंधन का कारण कर्म नहीं हैं, कर्म का मन पर होने वाला संस्कार हैं। कर्म जड़ है, जड़ का कोई प्रभाव नहीं होता। किन्तु प्रभाव होता है चैतन्य पर। हमारे हृदय पर जो संस्कार होते हैं, वे बंधन या मुक्ति का कारण होते हैं।

नैष्कर्म्य अवस्था उस अवस्था को कहते हैं, जिस अवस्था में साधक या साधिका कर्म तो करते हैं, पर उनके मन पर उसका कोई संस्कार नहीं होता है। ये संस्कार कब पड़ते हैं? जब हमारे भीतर अहंबुद्धि, अहंकार या मैंपन रहता है, तब हमारे चित्त में ये संस्कार पड़ते हैं। ज्योंहि मनुष्य नैष्कर्म्य अवस्था को प्राप्त करता है, जब वह इसकी अनुभूति बौद्धिक दृष्टि से नहीं, हृदय से इसका अनुभव करने लगता है कि मैं नहीं तू, तब वह अनुभव करता है कि परमात्मा ही यह शब्दांजलि अपने सामने बैठने वाले परमात्मा को अर्पित कर रहा है। नैष्कर्म्य का अर्थ अकर्मण्यता नहीं है, जैसेकि व्यक्ति चुपचाप पड़ा है। श्वास-प्रश्वास लेना, भोजन करना, मलमूत्र का त्याग करना, यह सब भी कर्म है। यदि अहं है, तो इन कर्मों का भी प्रभाव हमारे जीवन में होगा। नैष्कर्म्य सिद्धि उसी व्यक्ति को हो सकती है, जो अंदर से कर्ता के बोध से बिल्कुल मुक्त हो चुका है। भगवान श्रीरामकृष्णदेव ने कहा, 'माँ, मैं रथ हूँ और तू रथिनी है, तू रथ चला रही है। भगवान श्रीरामकृष्णदेव को कभी ऐसा नहीं लगता था कि वे कुछ कर्म कर रहे हैं। वे 'मैं' शब्द का उपयोग भी कभी नहीं कर पाते थे। वे हमेशा कहा करते थे – 'माँ करा रही है'। उनके मन से अहंकार मिट गया था।

तो क्या यह नैष्कर्मसिद्धि की अवस्था है?

भगवान अर्जुन को समझा रहे हैं कि यदि व्यक्ति कर्म करना छोड़ दे, अकर्मण्य हो जाय तो, उसे निष्कामता की, नैष्कर्म्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। 'न च संन्यसनात् एव सिद्धिं समधिगच्छति। जीवन में झंझट के डर से काम किया ही नहीं, कर्म न करके जड़वत् बैठे रहे। हाथ में आये हुए कर्म को छोड़ देने से ऐसी निष्कर्मता की प्राप्ति नहीं होती, यह बात हमें ठीक से समझ लेनी पड़ेगी। निष्कर्मता की अवस्था मानसिक अवस्था है, शारीरिक नहीं। इसका संबंध बाहर से कुछ नहीं है, सारा खेल भीतर से है। भीतर से मैं क्या अनुभव करता हूँ? बाहर से हम चुपचाप आँख बंद करके बैठे हैं। लोग समझते हैं कि हम ध्यान में डूब गये हैं, किन्तु वह व्यक्ति जानता है कि भीतर क्या चल रहा है। साधना का सारा सम्बन्ध भीतर से है। बाहर से नहीं।

अर्जुन को पहले ही भगवान सावधान कर रहे हैं कि कर्म छोड़ देने से कुछ नहीं होने वाला है। मन का यह स्वभाव है कि वह मनुष्य क्यों अवश्य जानना चाहता हैं? अगर मुझे अभी कहा गया कि तुम बाहर जाकर उधर बैठ जाओ। तो तुरन्त मैं पूछूँगा 'क्यों उधर जाकर बैठूँ? मनुष्य का मन किसी भी रहस्य को स्वीकार नहीं करता है, उसकी प्रवृत्ति ऐसी है। मनुष्य का वास्तविक स्वरूप सत् चित आनन्द है। चित् माने ज्ञान। तो जहाँ भी ज्ञान में बाधा पड़ती है, अस्पष्ट होता है, तो मनुष्य व्याकुल हो जाता है, विचलित हो जाता है। इस 'क्यों' के प्रश्न से हम नहीं बच सकते। इस 'क्यों' का उत्तर मिलना चाहिए, अगर उत्तर नहीं मिला, तो मूढ़बुद्धि के समान हम काम करेंगे, बेहोशी में काम करेंगे। अर्जुन ने यद्यपि ये प्रश्न पूछा नहीं, किन्तु भगवान कृष्ण जैसा मनोवैज्ञानिक जान गये कि अर्जुन के मन में क्या चल रहा है। अर्जुन को निमित्त बनाकर भगवान ने इस सारे विश्व को मनोवैज्ञानिक ढंग से उत्तर दिया। पांचवे श्लोक में भगवान कहते हैं –

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।।३-५

अरे अर्जुन, कोई भी मनुष्य, प्राणीमात्र, क्षणभर के लिये भी स्वप्न, जागृति, सुषुप्ति इन तीन अवस्था में बिना कर्म किये नहीं रह सकता। केवल मृत्यु में ही इस जन्म के प्रारब्ध कर्मों का समापन होता है। जब मैं मर जाऊँगा, तब मेरे इस जन्म के प्रारब्ध के कर्मों का समापन होगा, और तब मैं बिना कर्म किये रह सकूँगा।

मनुष्यों का शरीर मरता है, मन नहीं मरता है, मन में हमारे कर्मों के संसार संचित रह जाते हैं। जब हम दूसरी योनि में जायेंगे, तब वहाँ उस योनि के अनुसार कर्म होते रहेंगे। हम कभी बिना कर्म किये नहीं रह सकते।

प्रकृति तीन गुणों से बनी है – सत्त्व, रज और तम। ये गुण अनादि काल से सतत् कर्मशील हैं। वर्तमान में भौतिक विज्ञान के वैज्ञानिक बताते हैं कि संसार में कुछ भी अचल नहीं है। एक वैज्ञानिक का व्याख्यान मैंने सुना। वे खुद ईश्वर में विश्वास नहीं करते थे। कॉलेज के प्रोफेसर थे। कह रहे थे कि जैसे आप लोग कहते हैं कि इस संसार में, सारे विश्व में ब्रह्म व्याप्त है। संसार के कण-कण में और व्यक्ति के रंध्र-रंध्र में ईश्वर व्याप्त है। किन्तु, भौतिक विज्ञान की भाषा में जानना चाहेंगे, तो यह संसार उर्जा-व्याप्त है – This world is full of energy & nothing else. विश्व में ऊर्जा छोड़कर दूसरा कुछ भी नहीं हैं। इस भौतिक विज्ञान की दृष्टि से ऊर्जा कभी अचल नहीं होती है। ऊर्जा का सूक्ष्मरूप प्रचण्ड गतिशील है। हमारा विश्व, हमारा ब्रह्मांड करोड़ों वर्षों पूर्व जब प्रथम बार महाविस्फोट हुआ, उसके बाद से यह ब्रह्मांण बढ़ता जा रहा है। ब्रह्माण्ड प्रकाश की गति से बढ़ता है। प्रकाश एक सेंकड में १,८६,००० (एक लाख छयासी हजार) मिल चलता है। इस गति से हमारा ब्रह्माण्ड फैल रहा है। इसकी चर्चा हम इसलिए कर रहे हैं कि विज्ञान तो यह कहता ही है, हमारे शास्त्र भी कहते हैं। शास्त्र इसलिए कहते हैं कि हमारे ऋषि मुनियों ने अवतारों ने मन की शक्ति से विश्व के संपूर्ण रहस्य को जान लिया। इसलिए बताते हैं कि इस विश्व-ब्रह्मांड में बिना कर्म के कोई रह नहीं सकता। क्यों नहीं रह सकता? क्योंकि प्रकृति से ही जन्म हुआ है। प्रकृति सत्त्व, रज, तम तीन गुणों युक्त है। ❖ **(क्रमशः)** ❖

कठोपनिषद्-भाष्य (२२)

(सनातन वैदिक धर्म के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहते हैं। हजारों वर्ष पूर्व भारत में जीव-जगत् तथा उससे सम्बन्धित गम्भीर विषयों पर प्रश्न उठाकर उनकी जो मीमांसा की गयी थी, इनमें उन्हीं का संकलन है। श्रीशंकराचार्य ने वैदिक धर्म की पुनः स्थापना हेतु इन पर सहज-सरस भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित किया था। स्वामी विदेहात्मानन्द द्वारा किया हुआ कठोपनिषद्-भाष्य का सरल अनुवाद प्रस्तुत है। भाष्य में आये मूल श्लोक के शब्दों को रेखांकित कर दिया गया है और कठिन सन्धियों का विच्छेद कर सरल रूप देने का प्रयास किया गया है, ताकि नव-शिक्षार्थियों को तात्पर्य समझने में सुविधा हो। –सं.)

यत् विज्ञानात् न किंचित् अन्यत् प्रार्थयन्ते ब्राह्मणाः कथं तत् अधिगम इति उच्यते –

जिसे जानने के बाद ब्रह्मवेत्ता अन्य कुछ भी नहीं चाहता, उसे कैसे जाना जाता है, अब यही बताते हैं –

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनान् ।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते ।।
एतद्वै तत् ।। २/१/३ (७४)

अन्वयार्थ – येन जिस **एतेन एव** विज्ञान-स्वरूप आत्मा द्वारा (लोग) **रूपं रसं गन्धं शब्दान् स्पर्शान्** रूप, रस, गन्ध, शब्दों तथा स्पर्शों **च** और **मैथुनान्** मिलन-सुख को **विजानाति** विशेष रूप से जानते हैं; (उस आत्मा के लिये) **अत्र** इस संसार में **किम्** कौन सी वस्तु (अज्ञात) **परिशिष्यते** बाकी रह जाती है? **एतद्वै** यह आत्मा ही **तत्** वह विष्णुपद है।

भावार्थ – जिस विज्ञान-स्वरूप आत्मा द्वारा लोग रूप, रस, गन्ध, शब्दों, स्पर्शों और मिलन-सुख को विशेष रूप से जानते हैं; (उस आत्मा के लिये) इस संसार में कौन सी वस्तु अज्ञात रह जाती है? यह आत्मा ही वह विष्णुपद है।

भाष्यम् – येन विज्ञान-स्वभावेन-आत्मना रूपं रसं गन्धं शब्दान् स्पर्शान् च मैथुनान् मैथुन-निमित्तान् सुख-प्रत्ययान् विजानाति विस्पष्टं जानाति सर्वो लोकः ।

जिस चैतन्य-स्वरूप आत्मा के द्वारा सभी लोग रूप, रस, गन्ध, शब्दों, स्पर्शों तथा मैथुन को स्पष्ट रूप से जानते हैं।

ननु नैवं प्रसिद्धिः लोकस्य आत्मना देहादि-विलक्षणेन अहं विजानामि इति । देहादि-संघातो अहं विजानामि इति तु सर्वो लोकः अवगच्छति ।

शंका – परन्तु लोक में ऐसी प्रसिद्धि नहीं है कि "मैं आत्मा के द्वारा जानता हूँ, जो देह आदि से पृथक् है।" बल्कि सभी लोग समझते हैं कि "मैं देह आदि के संघात के रूप में जानता हूँ।"

न तु एवम् । देहादि-संघातस्य अपि शब्दादि-स्वरूपत्व-अविशेषात् विज्ञेयत्व-अविशेषात् च न युक्तं विज्ञातृत्वम् । यदि हि देहादि-संघातो रूपाद्यात्मकः सन् रूपादीन् विजानीयात् बाह्या अपि रूपादयः अन्योन्यं स्वं स्वं च विजानीयुः । न च एतत् अस्ति । तस्मात् देहादि-लक्षणान् च रूपादीन् एतेनैव देहादि-व्यतिरिक्तेन एव विज्ञान-स्वभावेन आत्मना विजानाति लोकः, यथा येन लोहो दहति सः अग्निः इति तद्वत ।

समाधान – ऐसी बात नहीं है। चूँकि देह आदि संघात भी अविशेष रूप से शब्द आदि रूप ज्ञेय पदार्थ ही है, अतः उसे ज्ञाता मानना उचित नहीं है। यदि रूप-रस आदि के द्वारा निर्मित देहादि संघात रूप-रस आदि को देख पाते, तो फिर बाह्य रूप-रस आदि भी एक-दूसरे को (स्वतंत्र रूप से) देख पाते। परन्तु ऐसा नहीं होता। अतः जैसे – जिसके द्वारा लोहा जलाता है, वह अग्नि है, वैसे ही लोग देहादि लक्षणवाले रूप आदि को देहादि से भिन्न विज्ञान-स्वभाव आत्मा के द्वारा ही जानते हैं।

आत्मनः अविज्ञेयं किम् अत्र अस्मिन् लोके परिशिष्यते न किंचित् परिशिष्यते । सर्वम् एव तु आत्मना विज्ञेयम् । यस्य आत्मनः अविज्ञेयं न किंचित् परिशिष्यते स आत्मा सर्वज्ञः । एतद्वै तत् । किं तद्यत् नचिकेतसा पृष्टं देवादिभिः अपि विचिकित्सितं धर्मादिभ्यः अन्यत् विष्णोः परमं पदं यस्मात् परं नास्ति तद्वा एतत् अधिगतम् इत्यर्थः ।।३।।

आत्मा के लिये इस संसार में क्या अविज्ञेय रह जाता है? अर्थात् कुछ भी नहीं रह जाता। बल्कि आत्मा के द्वारा सब कुछ विज्ञेय है। जिस आत्मा के लिये कुछ भी अविज्ञेय नहीं रहा जाता, वह आत्मा सर्वज्ञ है। यही वह (आत्मा) है। कौन सी? जो नचिकेता द्वारा पूछी गयी है, जिसके विषय में देवताओं ने भी शंका व्यक्त की थी, जो धर्म आदि से पृथक विष्णु का परम पद है, जिसके परे कुछ भी नहीं है, उसी का यहाँ वर्णन किया गया। इसका यही तात्पर्य है।

* * *

अतिसूक्ष्मत्वात् दुर्विज्ञेयम् इति मत्वा एतम् एव अर्थं पुनः पुनः आह –

यह सोचकर कि वह अति सूक्ष्म होने के कारण कठिनाई से जानने योग्य है, उसी तत्त्व को बारम्बार कहते हैं –

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ।।
२/१/४ (७५)

अन्वयार्थ – **येन** जिस आत्मा के द्वारा (लोग) **स्वप्न-अन्तं** स्वप्नावस्था के दृश्यों **जागरित-अन्तं च** और जाग्रत अवस्था के दृश्यों – **उभौ** दोनों को **अनुपश्यति** देखते हैं, (उस) **महान्तं** महान् (तथा) **विभुम्** व्यापक (सभी के आधार) **आत्मानं** आत्मा को **मत्वा** जानकर **धीरो** विवेकवान व्यक्ति **न शोचति** शोक नहीं करता, दु:खों के पार चला जाता है।

भावार्थ – जिस आत्मा के द्वारा (लोग) स्वप्न अवस्था व जाग्रत अवस्था के दृश्यों – दोनों को देखते हैं, (उस) महान् तथा व्यापक (सभी के आधार) आत्मा को जानकर विवेकवान व्यक्ति शोक नहीं करता, दु:खों के पार चला जाता है।

भाष्यम् – स्वप्नान्तं स्वप्न-मध्यं स्वप्न-विज्ञेयम् इत्यर्थः तथा जागरितान्तं जागरित-मध्यं जागरित-विज्ञेयं च; उभौ स्वप्न-जागरितान्तौ येन आत्मना अनुपश्यति लोक इति सर्वपूर्ववत्। तं महान्तं विभुम् आत्मानं मत्वा अवगम्य-आत्मभावेन साक्षात् अहम् अस्मि परमात्मा इति धीरो न शोचति ।।४ ।।

स्वप्न-अवस्था के अर्थात् स्वप्न में ज्ञेय वस्तुओं और जाग्रत अवस्था में जाग्रत के ज्ञेय वस्तुओं – दोनों को व्यक्ति जिस आत्मा के द्वारा जानता है। बाकी सब पूर्ववत्। उस महान् व्यापक आत्मा को – आत्मरूप से साक्षात् 'मैं ही वह परमात्मा हूँ' ऐसा जानकर विवेकी व्यक्ति शोक नहीं करता।

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात् ।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ।।
एतद्वै तत् ।। २/१/५ (७६)

अन्वयार्थ – **यः** जो **इमम्** इस **मधु-अदम्** कर्मफलों के भोगी **जीवम्** प्राण आदि को धारण करनेवाली **आत्मानम्** आत्मा को **भूत-भव्यस्य** अतीत तथा भविष्य का **ईशानम्** नियन्ता-रूप **अन्तिकात्** अभिन्न-रूप **वेद** जानता है, वह **ततो** उस ज्ञान के बाद **न विजुगुप्सते** अपनी रक्षा के लिये व्याकुल नहीं होता। **एतद्वै** यह आत्मा ही **तत्** वह विष्णुपद है।

भावार्थ – जो व्यक्ति कर्मफलों के भोगी प्राण आदि को धारण करनेवाली इस आत्मा को अतीत तथा भविष्य के नियन्ता-रूप में तथा (स्वयं से) अभिन्न-रूप जानता है, वह उस ज्ञान के बाद अपनी रक्षा के लिये व्याकुल नहीं होता। यह आत्मा ही वह विष्णुपद है।

भाष्यम् – यः कश्चित् इमं मध्वदं कर्म फलभुजं जीवं प्राण-आदि-कलापस्य धारयितारम् आत्मानं वेद विजानाति अन्तिकात् अन्तिके समीपे ईशानम् ईशितारं भूत-भव्यस्य काल-त्रयस्य, ततः तत् विज्ञानात् ऊर्ध्वम् आत्मानं न विजुगुप्सते न गोपायितुम् इच्छति अभय-प्राप्तत्वात्। यावत् हि भय-मध्यस्थः अनित्यम् आत्मानं मन्यते तावत् गोपायितुम् इच्छति आत्मानम्। यदा तु नित्यम् अद्वैतम् आत्मानं विजानाति तदा किं कः कुतो वा गोपायितुम् इच्छेत्। एतद्वै तत् इति पूर्ववत् ।। २/१/५ (७६) ।।

इसके अतिरिक्त जो कोई भी कर्मफलों के भोक्ता, प्राण आदि के समूह के धारणकर्ता और भूत-भविष्य अर्थात् तीनों कालों के शासक के रूप में इस आत्मा को निकटस्थ जानता है; उस ज्ञान के बाद, अभय प्राप्त होने जाने के कारण वह अपनी रक्षा करने की इच्छा नहीं करता। व्यक्ति जब तक आत्मा को अनित्य मानकर भय के बीच में पड़ा रहता है, तभी तक वह अपनी रक्षा करने को इच्छुक होता है। परन्तु जब उसे नित्य अद्वैत आत्मा का ज्ञान हो जाता है; तब भला कौन, किससे, किसकी रक्षा करने की इच्छा करेगा। 'एतद्वै तत्' की व्याख्या पूर्ववत् ही होगी।

* * *

यः प्रत्यगात्मा-ईश्वर-भावेन निर्दिष्टः स सर्वात्मा इति एतत् दर्शयति –

अब यह दिखाते हैं कि जिस अन्तरात्मा को ईश्वर के रूप में निर्देश किया गया है, वही सबकी आत्मा है –

यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत ।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत ।।
एतद्वै तत् ।। २/१/६ (७७)

अन्वयार्थ – **यः** जो हिरण्यगर्भ **अद्भ्यः** जल आदि पंचभूतों के **पूर्वम्** पहले **तपसः** ज्ञान-स्वरूप ब्रह्म से **अजायत** उत्पन्न हुआ था (और) **गुहाम्** प्राणियों के हृदयाकाश में **प्रविश्य** प्रविष्ट होकर **भूतेभिः** देह-इन्द्रियों की समष्टि के साथ **तिष्ठन्तम्** विद्यमान है, **पूर्वम् जातम्** उस प्रथमोत्पन्न हिरण्यगर्भ को **यः** जो **व्यपश्यत** दर्शन कर लेता है, (वह) **तत्** पूर्वोक्त **एतत् वै** इस ब्रह्म का ही दर्शन करता है।

भावार्थ – जो हिरण्यगर्भ जल आदि पंचभूतों के पहले ज्ञान-स्वरूप ब्रह्म से उत्पन्न हुआ था (और) प्राणियों के हृदयाकाश में प्रविष्ट होकर देह-इन्द्रियों की समष्टि के साथ विद्यमान है, उस प्रथमोत्पन्न हिरण्यगर्भ का जो दर्शन कर लेता है, (वह) इस पूर्वोक्त ब्रह्म का ही दर्शन करता है।

भाष्यम् – यः कश्चित् मुमुक्षुः पूर्वं प्रथमं तपसो ज्ञानादि-लक्षणात् ब्रह्मणः इति एतत् जातम् उत्पन्नं हिरण्यगर्भम्; किम् अपेक्ष्य पूर्वम् इति आह – अद्भ्यः पूर्वम् अप्-सहितेभ्यः पञ्चभूतेभ्यो न केवलाभ्यः अद्भ्य इति अभिप्रायः,

अजायते उत्पन्नो यः तं प्रथमजं देवादि–शरीराणि उत्पाद्य सर्व-प्राणि-गुहां हृदयाकाशं प्रविश्य तिष्ठन्तं शब्दादीन् उपलभमानं भूतेभिः भूतैः कार्य-करण-लक्षणैः सह तिष्ठन्तं यो व्यपश्यत् यः पश्यति इति एतत्। य एवं पश्यति स एतत् एव पश्यति यत् तत् प्रकृतं ब्रह्म ।। २/१/६ (७७)।।

जो कोई मुमुक्षु – चैतन्य आदि लक्षणवाले ब्रह्म से तप

द्वारा प्रथम उत्पन्न – हिरण्यगर्भ को (देखता है)। किसकी तुलना में प्रथम (उत्पन्न)? यह बताते हैं – जल के पूर्व, तात्पर्य यह कि केवल जल ही नहीं, जल के साथ ही पंचभूतों के पहले (उत्पन्न)। जिस प्रथम-उत्पन्न (हिरण्यगर्भ) ने देव आदि के शरीरों को उत्पन्न करके, समस्त प्राणियों के हृदय-गुहा में प्रविष्ट होकर स्थित रहता है, उसे कार्य-करण लक्षणोंवाले शरीर तथा इन्द्रिय रूप पंचभूतों के साथ शब्द आदि की उपलब्धि करते हुए जो देखता है, वह उसी वास्तविक ब्रह्म को देखता है। ❖ (क्रमशः) ❖

विवेक-चूडामणि

श्री शंकराचार्य

अहंबुद्ध्यैव मोहिन्या योजयित्वाऽऽवृतेर्बलात्।
विक्षेपशक्तिः पुरुषं विक्षेपयति तद्गुणैः ।।३४३।।

अन्वय – आवृतेः बलात् एव विक्षेप-शक्तिः मोहिन्या अहं-बुद्ध्या पुरुषं योजयित्वा तद्गुणैः विक्षेपयति।

अर्थ – विक्षेप-शक्ति – आवरण-शक्ति के बल पर ही मोहिनी अहंबुद्धि के द्वारा व्यक्ति को उस (अहंबुद्धि) के गुणों द्वारा विक्षिप्त या चंचल किये रहती है।*

* अविद्या माया की दो शक्तियाँ हैं – आवरण और विक्षेप। आवरण द्वारा वह रज्जु के स्वरूप को ढककर विक्षेप द्वारा सर्प को दिखाती है।

विक्षेपशक्तिविजयो विषमो विधातुं
निःशेषमावरणशक्तिनिवृत्त्यभावे ।
दृग्दृश्ययोः स्फुटपयोजलवद्विभागे
नश्येत्तदावरणमात्मनि च स्वभावात् ।
निःसंशयेन भवति प्रतिबन्धशून्यो
विक्षेपणं नहि तदा यदि चेन्मृषार्थे ।।३४४।।

अन्वय – निःशेषम् आवरण-शक्ति-निवृत्ति-अभावे विक्षेप-शक्ति-विजयः विधातुं विषमः। दृग्-दृश्ययोः स्फुट-पयो-जलवत् विभागे, आत्मनि तद् आवरणम् स्वभावात् च नश्येत्। यदि चेत् मृषार्थे विक्षेपणं न हि तदा निःसंशयेन प्रतिबन्धशून्यः भवति।

अर्थ – आवरण-शक्ति का पूरी तौर से विनाश हुए बिना, विक्षेप-शक्ति पर विजय प्राप्त करना अति कठिन है। दूध तथा जल के पृथक्करण के समान, दृक् (द्रष्टा आत्मा) और दृश्य (अनात्मा) के बीच का भेद स्पष्ट हो जाने पर, स्वाभाविक रूप से ही, आत्मा पर से उसका आवरण नष्ट हो जाता है। यदि मिथ्या वस्तुओं में चित्त का विक्षेप न हो, तो असन्दिग्ध भाव से ज्ञान प्रतिबन्ध-रहित अर्थात् अबाध हो जायेगा।

सम्यग्विवेकः स्फुटबोधजन्यो
विभज्य दृग्दृश्यपदार्थतत्त्वम् ।
छिनत्ति मायाकृतमोहबन्धं
यस्माद्विमुक्तस्य पुनर्न संसृतिः।।३४५।।

अन्वय – स्फुट-बोध-जन्यः सम्यक्-विवेकः दृक्-दृश्य-पदार्थ-तत्त्वम् विभज्य, मायाकृत-मोहबन्धं छिनत्ति, यस्माद् विमुक्तस्य पुनः न संसृति।

अर्थ – स्पष्ट ज्ञान से उत्पन्न होनेवाला सम्यक् विवेक, द्रष्टा (आत्मा) और दृश्य (अनात्म पदार्थों) का विभाजन करके, माया द्वारा उत्पन्न मोह-बन्धन को छिन्न कर देता है, जिसके फलस्वरूप मुक्त हुआ व्यक्ति पुनः संसार में नहीं आता।

परावरैकत्वविवेकवह्नि-
र्दहत्यविद्यागहनं ह्यशेषम् ।
किं स्यात्पुनः संसरणस्य बीज-
मद्वैतभावं समुपेयुषोऽस्य ।।३४६।।

अन्वय – पर-अवर-एकत्व-विवेक-वह्निः हि अविद्या-गहनं अशेषम् दहति। अद्वैत-भावं समुपेयुषः अस्य, पुनः संसरणस्य बीजं किं स्यात्?

अर्थ – परब्रह्म तथा जीव (अवर) का एकत्व-बोध करानेवाली विवेकरूपी ज्ञानाग्नि, निश्चित रूप से, अविद्या के गहन अरण्य को पूरी तौर से जला डालती है। अद्वैतभाव में प्रतिष्ठित हुए उस जीव के लिये संसारचक्र में आवागमन का बीज भी क्या रह जाता है?

आवरणस्य निवृत्तिर्भवति हि सम्यक्पदार्थदर्शनतः ।
मिथ्याज्ञानविनाशस्तद्विक्षेपजनितदुःखनिवृत्तिः।।३४७।।

अन्वय – सम्यक्-पदार्थ-दर्शनतः हि आवरणस्य निवृत्तिः भवति, मिथ्या-ज्ञान-विनाशः तद्-विक्षेप-जनित-दुःख-निवृत्तिः।

अर्थ – पदार्थ का यथार्थ दर्शन होने पर, निश्चित रूप से, आवरण दूर हो जाता है, मिथ्या ज्ञान का विनाश हो जाता है और उस पर विक्षेप द्वारा उत्पन्न दुःख चले जाते हैं।

एतत्-त्रितयं दृष्टं सम्यग्रज्जुस्वरूपविज्ञानात् ।
तस्माद्वस्तुसतत्त्वं ज्ञातव्यं बन्धमुक्तये विदुषा ।।३४८।।

अन्वय – सम्यक्-रज्जु-स्वरूप-विज्ञानात् एतत् त्रितयं दृष्टम्, तस्मात् विदुषा बन्ध-मुक्तये स-तत्त्वं वस्तु ज्ञातव्यम्।

अर्थ – रज्जु के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान से – (आवरण अर्थात् रज्जु विषयक अज्ञान, विक्षेप अर्थात् सर्प की मिथ्या भ्रान्ति और उससे होनेवाला भय तथा दुःख) – ये तीनों ही दृष्टि में आ जाते हैं। अतएव बन्धनों से मुक्ति के लिये विद्वान् को ब्रह्मवस्तु का यथार्थ तत्त्व जान लेना चाहिये।

❖ (क्रमशः) ❖

पुस्तक समीक्षा

स्वामी प्रपत्त्यानन्द

डॉ. हरवंशलाल ओबराय समग्र

(तीन खण्डों में) मूल्य – प्रति खंड रु. ४००/- मात्र
सम्पादक एवं संकलनकर्ता – स्वामी संवित् सुबोधगिरि
प्रकाशक – शिवार्चन प्रकाशन, मानव प्रबोधन प्रन्यास, श्री लालेश्वर महादेव मन्दिर, शिवमठ, शिवबाड़ी, बीकानेर – ३३४ ००३ (राजस्थान)
दूरभाष – ०१५१ – २२३०९८२

डॉ. हरवंशलाल ओबराय भारतीय संस्कृति के विख्यात अन्वेषक तथा मूर्धन्य विद्वान थे। उन्होंने विश्व के १०६ देशों की यात्रा की पाश्चात्य सभ्यता की चकाचौंध उन्हें लेशमात्र भी उनके भारतीय संस्कृति की निष्ठा से विचलित नहीं कर सकी। वे सर्वत्र भारतीय संस्कृति की महिमा से जन-मानस को अवगत करात रहे। उनकी लेखनी सर्वत्र गौरमयी भारतीय सभ्यता के तत्त्वों का अन्वेषण करती रही। उनके जीवन के मुख्य प्रेरणाश्रोत स्वामी विवेकानन्द, मदनमोहन मालवीय, लोकमान्य तिलक, आचार्य रघुवीर और डॉ. राधाकृष्णन् जी थे। इन महामनिषीयों एवं उत्कृष्ट कोटि के विद्वानों ने उनके जीवन में भारतीय संस्कृति का बीजारोपण किया, जो बाद में पल्लवित और पुष्पित होकर समाज के लिये उपयोगी बना। उन्होंने जुगलकिशोर बिड़लाजी की प्रेरणा से राँची में संस्कृति विहार की स्थापना की, जिससे छोटानागपुर के आदिवासी क्षेत्रों में भारतीय संस्कृति की ज्योति प्रज्ज्वलित हुई। वहाँ बहुत से सेवाकार्य भी किये गये, जिससे वहाँ के अतिरिक्त बिहार के अन्य क्षेत्रों में भी जागृति हुई। अंतत: उनका सम्पूर्ण जीवन मानवता की सेवा में समर्पित रहा।

ऐसे भारतीय संस्कृति और मानवता के सेवक डॉ. हरवंशलाल ओबराय जी के द्वारा लिखित एवं दिये गये व्याख्यानों का संकलन 'डॉ. हरवंशलाल ओबराय समग्र' नामक ग्रंथ के रूप में संतप्रवर स्वामी संवित सुबोध गिरि जी के द्वारा किया गया है, जो बड़ा ही श्रमसाध्य एवं स्वामीजी की मेधा का परिचायक है। प्रस्तुत ग्रन्थ तीन खंडों में विभाजित है। प्रथम खंड में राष्ट्रीय समस्याओं और इतिहास से संबंधित लेखों का संकलन है। विभिन्न देशों की संस्कृति एवं इतिहास पर चर्चा की गयी है। स्वामी विवेकानन्द का शिक्षा दर्शन : एक संगोष्ठी का विवरण एवं राष्ट्रस्यचक्षु इतिहासमेतत् आदि लगभग ८० लेख एवं विभिन्न विषयों से संबंधित बहुत से चित्र भी दिये गये हैं। प्रश्न है – इतिहास क्या है? उत्तर है – इतिहास एक राष्ट्र के उत्थान-पतन की गाथा है। राष्ट्रस्यचक्षु इतिहासमेतत् - अर्थात् इतिहास राष्ट्र का चक्षु है। इसके द्वारा राष्ट्र अपने अतीत को पहचानता है। वर्तमान को समझने की चेष्टा करता है और भविष्य के निर्माण की प्रेरणा प्राप्त करता है।

द्वितीय खंड महापुरुषों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर अवलंबित है। इसमें लगभग ९६ लेखों में संतों, राजनेताओं, साहित्यकारों, स्वतंत्रता सेनानियों, वीर शहिदों एवं प्रतापी राजाओं आदि अनेकों महापुरुषों के जीवन-चरित्रों, उनके जीवन-दर्शन एवं उनके जीवन की कुछ प्रेरक घटनाओं का उल्लेख है। इस अध्याय का प्रथम निबन्ध विभूति वन्दना सर्वप्रथम श्रीराधा को समर्पित है। लेखक श्रीराधा की ऐतिहासिक प्रामाणिकता को ऋग्वेद, सामवेद और अथर्ववेद से उद्धृत किया। श्रीकृष्णप्रिया राधा केवल इतिहास के पन्नों तक ही सीमित नहीं, अपितु आज भी चराचर जगत् की स्वामिनी एवं श्रीकृष्ण के अभिन्न अंग के रूप में विद्यमान हैं।

तृतीय खंड में धर्म-दर्शन-संस्कृति-उत्सव-विज्ञान एवं मनोविज्ञान पर बड़े मूल्यवान एवं सारगर्भित ८८ निबन्ध हैं। प्रथम निबन्ध भारतीय दर्शन की पूर्णता में लेखक लिखते हैं, "भारत में पश्चिम की तरह दर्शन केवल बुद्धि-व्यायाम अथवा वाणी का विलास मात्र नहीं, वरन् वह तो जीवन की सर्वोच्च साधना थी। भारत में दर्शन केवल मनोरंजन या बुद्धिरंजन का विषय न होकर जीवन की जीवन्त साधना का अंग रहा है।" सूरदास की हृदय वीणा से नि:सृत रामायण गीतिका, उपनिषद की शिक्षा-प्रणाली, स्वतन्त्रता के सांस्कृतिक आधार, शक्तिपूजा का दार्शनिक एवं सांस्कृतिक विवेचन आदि बहुत निबन्ध रत्नों से पूर्ण यह सम्पूर्ण वाङ्मय समग्र है।

इस ग्रन्थ के सम्पादक, परामर्शदाताओं एवं ग्रन्थ निर्माण में सहयोग करनेवाले सभी प्रशंसा एवं सम्मान के योग्य हैं।

❑❑❑
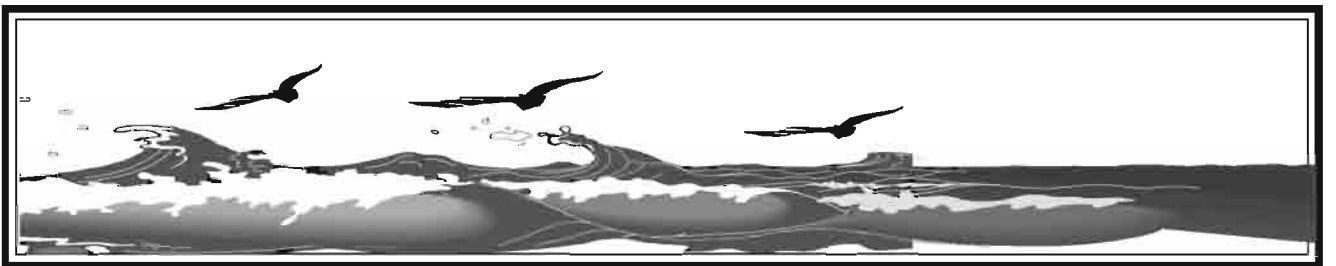
आशा पर आकाश थमा है

भैरवदत्त उपाध्याय

आशा करना या रखना हमारा स्वभाव है। चूँकि मनुष्य होने के नाते हम बुद्धिमान प्राणी हैं, अत: हम चिन्तन-मनन-शील भी हैं। हम केवल वर्तमान में ही नहीं जीते, वरन् अतीत और भविष्य भी हमारे जीवन से जुड़े होते हैं। यदि अतीत हमारी धरोहर है, तो भविष्य हमारी पूँजी। अतीत और वर्तमान देखकर हम भविष्य की रेखाओं में रंग भरते हैं और उससे आनन्दविभोर हो उठते हैं। पूर्व के कार्यों को वर्तमान के कारणों के सन्दर्भ में रखकर ही हम भविष्य के परिणामों का निर्धारण करते हैं। हमारी प्राक्कल्पनायें यदि सत्य सिद्ध हो जाती हैं, तो हमारी प्रसन्नता की सीमा नहीं रहती।

आशा जीवन का आधार, जीजीविषा का प्राण और जीवन के आँगन का ज्योति-स्तम्भ है। आशा के कारण हमारे कार्यों को गति मिलती है, उत्साह और प्रेरणा का संचार होता है। हम प्रतिदिन सूर्य की नयी किरणों से नये प्रभात की आशा करते हैं, नव उपलब्धियों की कामना व सर्वमांगल्य की अपेक्षा करते हैं। माना कि हमारा जीवन क्षणिक है, पानी के बुलबुले के समान हमारा अस्तित्व है। हमारा शरीर व्याधियों का घर है, बुढ़ापे की काली छाया से आक्रान्त है, सफलता अनिश्चित है, तो भी हमें जिन्दगी का सफर तय करना ही होगा, कर्मों का निष्पादन जरूरी है। वैयक्तिक तथा सामाजिक दायित्वों का निर्वहन अनिवार्य है। हमें अपने आप को अजर-अमर मानकर, अपने मन को आशाओं से ओतप्रोत कर कर्म करना है। कार्यों के सम्पादन में शिथिलता, प्रमाद या दीर्घसूत्रता अपेक्षणीय नहीं है। हमें मानकर चलना है कि हमारे बालों को यमराज ने पकड़ लिया है और कभी पटकनी लगा सकता है। हम काल के गाल में बैठे हैं। कालसर्प का विषदन्त कभी भी लग सकता है। अत: कबीर ने कल के सारे कामों को आज ही निपटाने को सचेत किया है, पर निराशा के अन्धसागर में डूबकर कर्म छोड़ने के सिद्धान्त से वे रंचमात्र भी सहमत नहीं थे।

निराशा जीवन का काला पृष्ठ है। उस पर काली स्याही से कुछ भी नहीं लिखा जा सकता। वह मृत्यु का अपर पर्याय है, विध्वंश का प्रतीक है। व्यक्ति जब निराशा से घिर जाता है, स्वयं को असहाय व तुच्छ मानने लगता है, तब वह सृजन एवं निर्माण को छोड़ विध्वंस में लग जाता है। इसी मन:स्थिति के कारण वह हत्या एवं आत्महत्या जैसे जघन्य कर्म भी कर बैठता है। आलस्य व प्रमाद भी निराशा के ही उपज हैं। जीवन के संघर्षों से भागना निराशा का ही फल है। निकटवर्ती परिणामों की दृष्टि, लघु-मार्गानुसरण की प्रवृत्ति, साधनों की शुद्धता की उपेक्षा एवं जीवन में कलह व दुर्व्यसनों का प्राबल्य इसी निराशा की देन है। अत: निराशा का त्याग जरूरी है।

निराशा का कारण आशा है। ऊँची आशाएँ जब अनुकूल फल नहीं देतीं, तो व्यक्ति का मन निराशा से भर जाता है। अत: आशाओं का यथार्थ के धरातल से जुड़ना और हमारे सामर्थ्य, शक्ति व साधनों की सीमा में रहना जरूरी है। जिसने साधारण-सी भी पहाड़ी पर चढ़ने की चेष्टा नहीं की, वह यदि हिमालय की सर्वोच्च चोटी पर चढ़ने की आशा करे, तो उसकी हँसी ही होगी, विफलता व निराशा ही हाथ लगेगी। इससे बचने हेतु हमें अपने कद से ऊँची आशाओं से बचना चाहिए।

गीता ने आशा की निन्दा की है। उसके त्याग का, आशा के पाश से मुक्ति का उपदेश दिया है। निराशी होने की प्रेरणा दी है। उसके अनुसार आशा का अर्थ है, विषयों की आकांक्षा, फल की आसक्ति और भोग की ओर मानव चेतना का झुकाव, जो आत्मा के अभ्युदय में, देवत्व की साधना में, मनुष्यत्व की प्राप्ति में सर्वथा बाधक है। आशा सबको डँसनेवाली सर्पिणी है। वह एक नदी है, जो अपार है, जिसमें विषयों के मगर रहते हैं। जिनका काम नदी में उतरनेवाले प्रत्येक को निगलना है। आशा अमर है, वह नहीं मरती, उसके फन्दे में फँसकर हम मनुष्य ही मरते हैं – **आशा तृष्णा ना मरी, मरि मरि गये शरीर**। इस आशा के त्याग का अर्थ हमारी भोगोन्मुखी प्रवृत्ति का त्याग है। जो हमें स्वार्थी और लोलुप बनाती है। दम्भ और पाखण्ड की ओर धकेलती है। योग में स्थिर होकर आसक्ति का त्याग कर कर्म के निष्पादन से विरत करती है।

आशा अजेय संकल्प का नाम है। दृढ़ निश्चय और अपूर्व साहस का प्रतीक है। शुद्ध मन से पवित्र उद्देश्य के लिये किये जाने वाले कर्म की निष्ठा है। जीवन-दर्शन और जीवन का आदर्श है। जीवन का महामंत्र और जीवन का गान है। आशा की वीणा से ही जीवन के समरस स्वर निकलते हैं। आशा के ही उद्वेलन से सामाजिक क्रान्ति और वैज्ञानिक आविष्कार होते हैं। अहिंसा और करुणा के प्रवाह में उसी का सौन्दर्य प्रस्फुटित होता है। आशा के कारण परमात्मा सृजन को उत्प्रेरित हुए। नये विहान की आशा से ही सूर्य उगता है, वायु चलती है, लताओं के पत्ते हिलते हैं और नदियाँ सागर की ओर चलती हैं। चातक स्वाति की आशा में ही जीता है, चकोर इसी के भरोसे रातें काटता है, वियोगिनी कुमुदिनी चन्द्र की आशा में ही दिन बिताती है। जगत् की गतानुगति इसी के बल पर है। आकाश इसी आशा के खम्भों पर थमा है – आशा से आकाश थमा है। इससे निराशा का कुहरा छँटता है और जीवन को दिशा मिलती है। वह जीवन का सम्बल है। इसलिये अन्त तक उसे न खोना क्या हमारे जीवन का व्रत नहीं है? ❑

शिकागो विश्वविद्यालय में विवेकानन्द चेयर

स्वामी विवेकानन्द की १५० वीं जन्म-जयन्ती के उपलक्ष्य में भारत सरकार ने १५ करोड़ डॉलर देकर शिकागो विश्वविद्यालय में विवेकानन्द चेयर की स्थापना करेगी। भारत सरकार के वित्तमन्त्री प्रणव मुखर्जी की उपस्थिति में शिकागो विश्वविद्यालय के डीन मार्था रोथ और संस्कृति मंत्रालय के सह-सचिव संजीव मित्तल ने परस्पर सहमति प्रदान की। श्री मुखर्जी ने शिकागो आर्ट इंस्टीट्युट में स्वामी विवेकानन्द फलक का विमोचन किया। इस अवसर में विश्वविद्यालय के डीन मार्था रोथ एसीरियोलाजी विभाग के प्रोफेसर चौन्से एस. बौचर, इतिहास विभाग के प्रोफेसर दीपेश चक्रवर्ती, दक्षिण एशियाई भाषा एवं संस्कृति विभाग के प्रोफेसर लारेन्स ए. किम्पटन ने विवेकानन्दजी की धार्मिक उदारता के बारे व्याख्यान दिया, जिन्होंने प्राच्य एवं पाश्चात्य के बीच धार्मिक सहिष्णुता का द्वार खोल दिया था। उस सभा में भारत के शिकागो वाणिज्य दूत मुक्तदत्त तोमर भी उपस्थित थे। इस अवसर पर विश्व-विद्यालय के छात्रों ने नृत्य और संगीत प्रस्तुत किये। विश्वविद्यालय ने एक लाइव वेबकास्ट भी बनाया है, जिसे 'यू शिकागो लाइव' इन यू शिकागो फेसबुक पर देखा जा सकता है।

स्वामी विवेकानन्द सामान्य ज्ञान प्रतियोगिता

स्वामी विवेकानन्द जी के १५०वें जन्मवर्ष के उपलक्ष्य में स्वामीजी के प्रेरक जीवन एवं कार्यों के प्रति किशोर एवं युवा विद्यार्थियों का आकर्षण बढ़ाने के लिये स्वामी विवेकानन्द सामान्य ज्ञान प्रतियोगिता का आयोजन कुशाभाऊ ठाकरे पत्रकारिता एवं जनसंचार विश्वविद्यालय, माधव राव सप्रे राष्ट्रवादी पत्रकारिता शोधपीठ और पं. दीनदयाल उपाध्याय मानव अध्ययन शोधपीठ के संयुक्त तत्त्वावधान में कक्षा ९ से १२वीं तक के बच्चों के लिये शनिवार, ११ फरवरी, २०१२ को किया गया। कुल १०० नम्बर के प्रश्न पत्र थे। पूरे राज्य से ५००० विद्यार्थियों ने सोत्साह भाग लिया। इसमें अधिकांश ग्रामीण क्षेत्रों के थे।

पुरस्कार वितरण समारोह २१ अप्रैल, २०१२ को शाम ८ बजे उपरोक्त संस्थाओं और रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में आश्रम के सत्संग-भवन में सम्पन्न हुआ। इस सभा के विशिष्ट अतिथि थे छत्तीसगढ़ सरकार के पर्यटन एवं संस्कृति तथा शालेय शिक्षामंत्री श्री वृजमोहन अग्रवाल। विशिष्ट वक्ता थे स्वामी सत्यरूपानन्द जी और अध्यक्षता कुशाभाऊ पत्रकारिता एवं जनसंचार विश्वविद्यालय के कुलपति श्री सच्चिदानन्द जोशी ने किया। प्रतियोगिता में प्रथम पुरस्कार विजेत्री कुमारी रेखा को ५०००/- रुपये, द्वितीय पुरस्कार विजेत्री हेमलता देवांगन को ३०००/- और दो तृतीय पुरस्कार प्राप्तकर्ताओं खुशबू तथा गजेन्द्र में से प्रत्येक को २०००/- रुपये प्रदान किये गये। ८०० विद्यार्थियों को मेरिट प्रमाणपत्र दिया जायेगा। निर्णायकों को भी सम्मानित किया गया। आगत अतिथियों का स्वागत स्वामी निर्विकारानन्द जी और धन्यवाद ज्ञापन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया। सबको बहुत स्वादिष्ट अल्पाहार प्रदान किया गया। कार्यक्रम में पत्रकारिता विश्व-विद्यालय के कुलसचिव, विश्वविद्यालय के अनेक प्राध्यापक, अधिकारी, प्राचार्य, अभिभावक-गण एवं काफी संख्या में छात्र-छात्रायें उपस्थित थे। प्रतियोगिता को सम्यक् सुसम्पन्न कराने में पं. दीनदयाल उपाध्याय मानव अध्ययन शोधपीठ के अध्यक्ष श्री दिनकर केशव भाकरे का महत्वपूर्ण योगदान रहा।

शबरी कन्या आश्रम में अन्नसेवा

वनवासी विकास समिति, छत्तीसगढ़ प्रान्त द्वारा संचालित शबरी कन्या आश्रम में रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम द्वारा जुलाई, २०११ से प्रतिमाह करीब दस हजार रुपयों की खाद्य-समाग्री – मूँग, चना, मटर, चिउड़ा, सूजी, दलिया, चीनी, मुंगफली का दाना, झुरगा, कई तरह के मसाले, चना-दाल, नमक, खजूर, सरसों तेल १ टीना, आलू २ बोरा आदि चीजें प्रदान की जा रही हैं। अब तक जनवरी, २०१२ तक लगभग रु. ७०,००० (सत्तर हजार) की खाद्य सामग्री दी जा चुकी है और आगे भी यह सेवा-कार्य जारी रहेगी। शबरी कन्या आश्रम में ४९ गरीब बालिकायें रहती हैं, जिनकी नि:शुल्क शिक्षा और आवास आदि की व्यवस्था वनवासी विकास समिति करती है। समिति पूर्णत: जनसहयोग पर ही आधारित है। इसे कोई सरकारी सहायता नहीं मिलती।

अखिल भारतीय आदिवासी सम्मेलन

रामकृष्ण मिशन आश्रम नारायणपुर (छत्तीसगढ़) के द्वारा अखिल भारतीय आदिवासी सम्मेलन सम्पन्न का आयोजन किया गया, जिसमें देश के विभिन्न स्थानों से लगभग १००० आदिवासियों ने भाग लिया।

रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम

विज्ञानानन्द मार्ग, मुट्ठीगंज, इलाहाबाद - 211 003
दूरभाष : 0532-2413369 फैक्स : 0532-2415235
ई-मेल : rkmathald@dataone.in

पूर्ण कुम्भ मेला शिविर-2013
एक अपील

प्रिय बन्धु,

प्रयागराज का कुम्भ मेला विश्व के सबसे बड़े धार्मिक उत्सव के रूप में प्रसिद्ध है । इस समय यहाँ पूर्ण कुम्भ मेला 15 जनवरी से 25 फरवरी 2013 तक सम्पन्न होने जा रहा है । इस महान अवसर पर देश के सभी भागों से तथा विदेशों से 150 लाख से भी अधिक तीर्थयात्रियों और साधुओं के भाग लेने की आशा है । संस्था को कल्पवासियों के अतिरिक्त साधुओं और तीर्थयात्रियों की चिकित्सकीय देखभाल के लिये विशेष व्यवस्था करनी होगी। पहले के वर्षों की ही तरह, यह संस्था, एकत्रित तीर्थयात्रियों और साधुओं को निःशुल्क चिकित्सकीय सुविधा उपलब्ध कराने के उद्देश्य से मेला-भूमि पर निःशुल्क एलोपैथिक और होम्योपैथिक क्लीनिक तथा एक प्राथमिक चिकित्सा केन्द्र का शिविर खोलने का विचार कर रही है।

इस कार्य में हमारी सहायता के लिये योग्य डाक्टरों, कम्पाउण्डरों, चिकित्सा में सहकारी कर्मचारियों और स्वयंसेवकों की आवश्यकता होगी। एक हजार तीर्थयात्रियों, दो सौ साधुओं तथा स्वयंसेवकों के लिये भोजन तथा आवास की भी व्यवस्था करनी होगी। शिविर में नियमित धार्मिक कार्यक्रमों के लिये एक मन्दिर तथा सत्संग पण्डाल की भी व्यवस्था करनी होगी।

शिविर का अनुमानित खर्च एक करोड़ रुपये है। इसलिये सेवाश्रम उदारमना जनता से इस उत्तम लोकोपकारी कार्य में सहायता के लिये, जैसा कि उन्होंने पहले भी ऐच्छिक रूप से किया है, आन्तरिकता से अपील करता है। योगदान के रूप में प्राप्त आपका धन सधन्यवाद स्वीकार किया जाएगा।

चेक तथा ड्राफ्ट **"A/C Payee only"** से रेखित तथा **''रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, इलाहाबाद''** के नाम पर काट कर रजिस्टर्ड/स्पीड डाक से भेजना श्रेयस्कर होगा ।

धन्यवाद सहित,

प्रभु सेवा में आपका
स्वामी निखिलात्मानन्द
सचिव

---

1. रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम को दिया गया दान इन्कम टैक्स ऐक्ट 1961 की धारा 80 जी के अधीन आयकर से मुक्त है ।
2. महत्वपूर्ण स्नान के दिन हैं - 15 जनवरी (मकर संक्रान्ति), 27 जनवरी (पौष पूर्णिमा), 10 फरवरी (मौनी अमावस्या), 15 फरवरी (वसंत पंचमी) और 25 फरवरी (माघ पूर्णिमा) ।
3. जो लोग कुम्भ मेला के अवसर पर हमारे परिसर में भोजन एवं आवास की सुविधा चाहते हैं, उन्हें अग्रिम भुगतान के साथ एक निर्दिष्ट फार्म पर आवेदन द्वारा अपना स्थान 15 अक्टूबर 2012 तक आरक्षित करा लेना चाहिए । इस विषय में विस्तृत विवरण के लिए उपरोक्त पते पर शीघ्र लिखने का कष्ट करें।